हित्य-प्रकाशन

विनोबा के विचार

[तीसरा भाग]

अनुवादक एव सग्रहकर्त्ता
कुन्दर दिवाण

१९६५
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

पहली बार १९६५
मूल्य
डेढ़ रुपया

मुद्रक
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
कश्मीरी गेट, दिल्ली

प्रकाशकीय

'विनोबा के विचार' के इस तीसरे भाग को प्रकाशित करने मे हम विशेष धन्यता का अनुभव कर रहे है। इससे पूर्व हमने जो दो भाग प्रकाशित किये थे, उन्हे असाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई है। पहले के नौ और दूसरे के छह सस्करण अवतक हो चुके हैं। तीसरे भाग के लिए निरतर माग हो रही थी।

सामाजिक क्राति के लिए प्रेरक विचारो की पृष्ठभूमि का होना एक अनिवार्य शर्त है। विनोबा के विचारो मे इसीकी पूर्ति होती है। विचार चाहे किसी अवसर पर प्रकट किये गए हो, पर उनका मौलिक और क्रातिकारी विवेचन उन्हे प्रसगातीत बना देता है। इसीलिए विनोबा के विचार कभी पुराने नही पडते, वे नित नूतन स्फूर्ति के अक्षय स्रोत बने रहते है। काल की दृष्टि से इसमे सकलित लेख स्वतत्रता-पूर्व के है, और दो-एक लेख लगभग उस समय के है जब स्वतत्रता के सूर्य का उदय होने को था। अत सामाजिक क्राति के सदर्भ मे उनमे जिन चेतावनियो का समावेश है, उनका मूल्य अब भी बना हुआ है।

हमे आशा है, पूर्व दो भागो की तरह यह तीसरा भाग भी व्यापक प्रचार-प्रसार पायेगा और भारत मे सामाजिक क्राति के नेता और कार्यकर्ताओ को इससे जो रोशनी मिलेगी, वह उन्हे अपने मार्ग पर निष्ठापूर्वक चलने की प्रेरणा देती रहेगी। 'खादी-जगत, 'ग्राम-सेवा-वृत्त', 'महाराष्ट्र धर्म' आदि जिन पत्रिकाओ से सामग्री ली गई, उनका हम आभार मानते हे।

निवेदन

सत्य अनन्त है और इसलिए उसकी खोज भी अनन्त ही हो सकती है। उस अनन्त की अनन्त खोज मे साधको की अनन्त मालिका चली आ रही है। उस मालिका मे सन्त विनोबा का नाम लिया जायगा।

१९२० से आज तक उनके विचारो का प्रकाश और प्रभाव बढता ही गया है और यह बिलकुल स्वाभाविक था, क्योकि सत्य स्वय प्रकाश होता है और अपना प्रभाव प्रकट किये बगैर नही रह सकता।

विनोबा ने बचपन मे ही परमार्थ का निश्चय किया और उसीकी एकाग्र उपासना की। इस कारण उनका जीवन तेज पुञ्ज बन गया है।

तद्-बुद्धयस् तदात्मानस् तन्निष्ठास् तत्परायणाः।
गच्छन्त्य पुनरावृत्ति ज्ञान-निर्धूत-कल्मषाः॥

का यह एक जीवन्त उदाहरण है। इसलिए उनके विचार, उच्चार और आचार का अवलोकन और अध्ययन हम सबको सदैव हितकर होगा। स्पर्शमणि कवि-कल्पना है, लेकिन सद्विचार रूप स्पर्शमणि प्रत्यक्ष वस्तु है। उससे मिट्टी का सोना होता है। कोई भी आजमा के देख ले।

विनोबा के विचार नित्य विकासशील है, क्योकि वह जीवन्त वस्तु है। उनके प्रकीर्ण विचारो की दो पुस्तके पहले ही प्रकाशित हो चुकी है और यह तीसरी पुस्तक उनकी पूर्ति मे प्रस्तुत हुई है। इन तीनो मे उनके स्वतन्त्रता-पूर्व के विचार सगृहीत हुए है। स्वतन्त्रता के बाद का पर्व भूदान पर्व कहलायेगा। उसकी बहुत-सी पुस्तके प्रकाशित हो चुकी है। लेकिन बीच की कडी गायब थी, वह इस ग्रन्थ मे जोडी गई है। इन तीनो ग्रन्थो मे अथाह का विचार-प्रवाह देखा जा सकता है। विचार स्थल और काल मे संबद्ध होने की वजह से उनकी स्थल-कालादि उपाधिया

स्थिर नही रह सकती। लेकिन उनसे मिलनेवाली स्फूर्ति और दृष्टि हमेशा-के लिए उपयोगी होती है। उसी अश को हमे हृदयगम करना है। नीर-क्षीर-विवेक और नित्यानित्य विवेक हमेशा ही करना होता है। वही विचार का उपादान है।

अनुवाद यथासाध्य भावानुसारी किया है। आशा है, कही भूल-चूक रह गई हो तो सुधार ली जायगी।

—कुन्दर दिवाण

विषय-सूची

विनोबा के विचार

[तीसरा भाग]

: १ :

सच्ची स्वतंत्रता

स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी ने सन् १९०६ मे हमारे देश को 'स्वराज' शब्द दिया। उस समय के तरुणो मे जो छटपटाहट थी, वह गुरुमुख से प्रकट हुई। उन दिनो हम छोटे बच्चे स्वतत्रता के गीत गाते थे। उनमे से हमारे मुह मे एक गीत यह था—

"भू जपानची नटवीली, स्वातन्त्र्यें। इटली हि कशी हंसवीली, स्वातन्त्र्यें।"

जापान ने रूस के आक्रमण का मुकावला किया और विजय हासिल की। गुलामी मे सड रहे सारे एशिया की मानो उसने इज्जत रख ली। हमे ऐमा लगा जैसे पूर्व मे स्वराज-सूर्य का उदय हुआ हो। हमारे लोग जापान के शौर्य के गीत प्रेम से गाने लगे। गुलामी की वेडियो को तोडकर स्वतन्त्र हुए देशो के इतिहास की खोज शुरू हुई। आस्ट्रिया की अधीनता से इटली स्वतन्त्र हुआ था। स्वभावत ही हमारा घ्यान उसकी ओर गया। इटली के देशभक्त मैजिनी और गैरीवाल्डी के चरित्र भारत की सभी भापाओ मे लिखे गए।

परतु आज हम क्या चमत्कार देख रहे है ? जिस जापान मे स्वराज-सूर्य के उगने का आभाम हुआ था, वही चीन को अपने पैरोतले रौदने का प्रयत्न कर रहा है। भारत की सहानुभूति जापान से हटकर चीन की तरफ चली गई। जिस इटली ने मैजिनी जैसे स्वाधीनता के पुजारी को जन्म दिया, उसीने मौका पाकर अवीसीनिया पर हमला कर दिया और स्वभावत भारत की सहानुभूति इटली से हटकर अवीसीनिया के प्रति हो गई।

यह क्या चमत्कार है ? हमारे अपने इतिहास मे भी हम यही देखते है। जो मराठे अन्याय के खिलाफ बगावत करके खडे हुए वही आगे चल-

गर राजपूतों को पीसने लगे और उन्होंने उड़ीसा को रौंद डाला। शिवाजी की भारतीय स्वराज की भाषा को भुलाकर हवा में मराठाशाही की भाषा गजने लगी। मराठों में भी आपस में यादवी युद्ध मचा और मराठाशाही की भाषा भी हवा में उड़ गई।

परन्तु उनमें चमत्कार कुछ नहीं है। दूसरे की सत्ता हमपर न रहे, केवल इतनी ही स्वतन्त्रता की प्रीति कोई बहुत बड़ा गुण नहीं है। वह तो पशुओं में भी पाया जाता है। स्वतन्त्रता का सच्चा उपासक तो वह है, जो चाहता है कि उसकी सत्ता दूसरों पर न हो। और उसका वह एक बड़ा गुण कहा जा सकता है।

परन्तु अभी वह गुण मनुष्यों में जड़ नहीं जमा पाया है, बल्कि कहा जायगा कि इससे उल्टे गुण ने जड़ जमा ली है। मुझपर किसीकी सत्ता न हो और यथाशक्य मेरी सत्ता दूसरों पर हो, अभी तो मनुष्य की यही वृत्ति है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य-हृदय उसे स्वीकार करता है, क्योंकि जो महापुरुष किसीपर अपनी सत्ता नहीं चलाते, उनके प्रति उसके हृदय में भी आदर है। परन्तु उन्हें 'सामान्य' नहीं, 'महापुरुष' कहा जाता है। सामान्य पुरुष ही महान बन जाने चाहिए। परन्तु आज यह बात नहीं है।

आज की स्वतन्त्रता की वृत्ति यह है कि मुझपर किसीकी सत्ता न हो और यथासंभव मेरी सत्ता जरूर दूसरों पर हो। इसी वृत्ति के पूर्वार्ध को सिद्ध करने का जब कार्यक्रम चलता है तब उसके बारे में स्वभावतः लोगों में सहानुभूति होती है, परन्तु ज्योंही इस वृत्ति के उत्तरार्ध का कार्यक्रम शुरू हो जाता है, त्योंही यह सहानुभूति भी चली जाती है।

हर आदमी को अपने हृदय को टटोलकर देखना चाहिए कि स्वतन्त्रता का सच्चा अर्थ उसे कहाँतक प्रिय है। कितने माता-पिताओं को ऐसा लगता है कि उनकी सत्ता उनके बच्चों पर भी न हो? वे अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य करें, उनकी सलाह पर विचार करें, जंचे तो उसे मानें, न जंचे तो छोड़ दें। जब बच्चे छोटे होते हैं तब उनपर कुछ सत्ता चलानी पड़ती है।

परतु वह भी दु ख की वात है। जहातक सभव हो, बच्चो को जल्दी ही स्वावलम्वी वना देना चाहिए, ऐसी छटपटाहट कितने माता-पिताओ मे होती है ? कितने माता-पिता इतनी सावधानी रखते है कि छोटे बच्चो को भी यह आभास न होने दे कि उनपर हम अपनी सत्ता चला रहे है ? इस प्रकार हर वात उन्हे समझाकर और उनकी बुद्धि को जाग्रत करके, उसे चालना देकर, उनकी सम्मति लेकर हर काम करे, ऐसा कितने माता-पिताओ को लगता है ? कितने माता-पिता सतोप और गौरव के साथ कहते है कि "हमारे वच्चे हमारी सत्ता को नही मानते"?

पाठशाला मे भी कितने शिक्षक अपना वडप्पन अपने विद्यार्थियो पर नही लादते ? कितने शिक्षक वच्चो से कह सकते है कि "बच्चो मुझसे डरो मत। मेरी बात समझ मे आये तभी ग्रहण करो। मेरे आचरण मे यदि कही दोप दिखाई दे तो उनका अनुकरण मत करो। उलटे इन दोपो की तरफ मेरा ध्यान जरूर दिलाओ। यदि यह वात नम्र भाषा मे नही कह सको तो जैसी भाषा मे कहते वने वैसी भाषा मे कहो, परतु कभी दवकर न रहो ?" यदि प्रेमल माता-पिता को भी अपने वच्चो पर तथा दयालु शिक्षको को भी विद्यार्थियो पर सत्ता चलाने की जरूरत मालूम हो तो स्वतत्रता का उदय कैसे होगा ?

मेरी सत्ता किसीपर न चले, यदि कही ऐसा हो रहा हो तो वह दु ख की वात होगी, ऐसा जव मनुप्य को लगेगा, तभी स्वतत्रता का उदय होगा।

: २ :

हम सबका श्रेय

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुई तबसे शालाओं में सब जगह इतिहास पढ़ाया जाता है। वह हम छुटपन से पढ़ते आये हैं। इतिहास पढ़ते समय मेरे मन में सदा यह विचार आता रहता था—और वैसा आपके मन में भी आता रहता होगा—कि हम यह इतिहास कितने दिन तक पढ़ते रहेंगे? हम स्वयं भी किसी इतिहास का निर्माण करेंगे या नहीं? ऐसे ही इतिहास का निर्माण हमने पिछले तीन वर्षों के आन्दोलन[1] में किया है।

इस सबका श्रेय सामान्य जनता को और खासकर विद्यार्थियों को है। सरकार ने सारे नेताओं को जेल में बन्द कर दिया और इसके कारण जनता को स्वतन्त्र बुद्धि से बरतने का मौका मिला, यह मानो ईश्वर की कृपा ही थी। इस तरह चलने में अनेकों ने अनेक तरह की गलतियां भी कीं। परन्तु स्वराज का अर्थ गलतियां करने का अधिकार ही तो है। इसलिए कोई कारण नहीं कि की गई गलतियों के लिए खेद करते बैठे रहें। आगे से शुद्ध मन से और सही तरीके से, बिना अधिक गलतियां किये, चलेंगे। फिर भी पिछले तीन वर्षों में नेताओं का मार्गदर्शन न होते हुए भी लोगों ने खुद होकर जो कुछ भी किया उसका समग्र दृष्टि से विचार करें तो मुझे वह आनन्दप्रद और प्रशंसनीय मालूम होता है। विशाल गंगा में गन्दे पानी का कोई नाला आकर मिल जाता है तब भी उससे पावन गंगा अपावन नहीं हो जाती। इसी प्रकार इतने बड़े आन्दोलन में, जिसमें सारे भारत ने भाग लेकर एक प्रचण्ड सत्ता से टक्कर ली, यदि कहीं गलतियां हुई भी हों तब भी यह

[1] 'भारत छोड़ो' आंदोलन सन् १९४२ से १९४५ तक।

मिलाकर यही कहना होगा कि राष्ट्र ने जो कुछ किया वह अगली पीढियो के लिए भी उत्साहवर्धक होगा।

सरकार ने हर प्रकार से दमन करने मे कुछ भी उठा नही रखा। परन्तु बेचारी सरकार को भी क्या दोप दिया जाय ? हम देखते है कि घबराया हुआ आदमी सदा ही मर्यादा का उल्लघन करता है। यदि सरकार धैर्यवान होती तो उसने जो आचरण किया, उससे भिन्न प्रकार का करती। किन्तु डरी हुई सरकार से, उसने जैसा भी आचरण किया है, उससे भिन्न प्रकार के आचरण की अपेक्षा ही कैसे की जा सकती है ? इसलिए मै सरकार को दोप नही देता। किन्तु इतना दमन सहन करने पर भी लोगो के चेहरे पर मुझे घबराहट नही दिखाई दी। इसलिए मेरी राय यह है कि भारत ने पिछले तीन वर्षो मे बहुत ही कमाई की है।

दवाई देते समय डाक्टर शीशी भरकर दवाई देता है। घर लाने पर शीशी मे ऊपर पानी और नीचे दवाई बैठ जाती है। इसलिए डाक्टर मरीजो को यह हिदायत दे रखता है कि वे दवाई लेते समय शीशी हिलाकर दवाई ले। हिलाने से सारी दवाई मिल जाती है और तब दवाई का प्रभाव पडता है। समाज की स्थिति भी ऐसी ही है। समाज को यदि बीच-बीच मे हिलाया न जाय तो ऊपर-ऊपर पानी इकट्ठा हो जाता है, जिससे समाज की आरोग्य-शक्ति घट जाती है। इस समय सारे समाज को खूब हिलाया गया, इसलिए भारत का स्वास्थ्य सुधर गया है। पिछले तीन वर्षो मे भारत ने जो प्रगति की वह पचास वर्षो मे भी नही हो सकती थी। यह प्रगति तीन बातो से प्रकट होती है। पहली तो यह कि भारत को जो एक मुर्दा राष्ट्र माना जाता था, ससार की वह धारणा बदल गई और दुनिया के लोग हक्का-बक्का होकर चौकन्ने हो गये। भारत एक 'मानव-समुदाय' है, वह जाग उठा है, यह पूरी तरह दुनिया के ध्यान मे आ गया। यह कोई छोटी-सी बात नही है। इस कारण सारे ससार मे भारत की प्रतिष्ठा बढी है। इतना होने पर भी यदि मुझे लोगो मे इतना तेज नही दिखाई देता तो प्रतिष्ठा बढ जाने पर भी मुझे सतोप नही होता। परतु साढे तीन वर्ष पहले जो स्वाभिमान

व क्रांति लोगों में नहीं दिखाई देती थी, वह आज दिखाई देने लगी है। विद्यार्थी पहले की अपेक्षा बहुत ही निर्भीक और स्वाभिमानपूर्वक व्यवहार करते दिखाई देते हैं। निर्भयता सब गुणों में श्रेष्ठ है। यदि निर्भयता लोगों में आ जाय तो फिर और किसी हथियार की जरूरत नहीं, और यदि निर्भयता न हो तो दूसरे सभी हथियार बेकार हैं। दूसरी बात यह है कि पिछले आंदोलन ने भारतीय समाज में इस निर्भयता का निर्माण किया है। और तीसरी यह कि ठेठ आंचलिक ग्रामों का समाज, जो किसी भी तरह नहीं जागता, वह भी इस समय जाग गया है। यदि इन तीनों बातों को हम जोड़ लें तो दिखाई देगा कि तीन वर्षों की घटनाओं का इतिहास उत्साहवर्द्धक है।

जेल में रहते हुए हमें विचार आता था कि जब जेल से बाहर आयेंगे तब हमारी क्या हालत होगी। किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, हमने देखा कि जेल से आये हुए लोग अधिक मजबूत बनते जा रहे हैं। जेल में जानेवाले लोग यदि नरम बनकर बाहर निकलते तो मैं कहता कि सरकार की बड़ी विजय प्राप्त हुई है। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, बल्कि उससे ठीक उल्टा हुआ। सरकार ने हमें तीन वर्ष तक एक साथ रखकर एक बड़ी भारी प्रचार-संस्था खड़ी कर दी। वहां व्याख्यान देने और अध्ययन करने का खूब मौका मिला। साथ ही, एक जबरदस्त संगठन किया जा सका। यह बात निश्चित है कि तीन वर्ष पहले हम सरकार के लिए जितने भारी थे, उससे आज दसगुना ज्यादा भारी हैं। यह परिणाम भी हमें ध्यान में रखना होगा। यह सब परिणाम इस आंदोलन का है। इसलिए आज का दिन मुझे आनन्ददायक मालूम होता है।

रामायण में एक कथन है कि रामराज्य में किसी नागरिक का लड़का छोटी उम्र में मर गया। उस मृत बालक को लेकर वह राम के दरबार में आया और राम के सामने रखकर बोला, "इसकी हत्या तेरे सिर है।" राम ने उसका क्या किया, वह मैं यहां नहीं कहूंगा। मुझे यहां यह कहना है कि उस जमाने लोगों का यह खयाल है कि प्रजा में किसीका बच्चा छोटी उम्र में मर जाय तो इसका दोष भी राज-सत्ता के सिर है। आज तो हमने जानो

आखो के सामने दस-पन्द्रह लाख लोगो को भूखो मरते देखा है। हम भोले-भाले लोगो की बात जाने दे, किन्तु मैं तो यह जानना चाहता हू कि राजनीति के पडितो की इस मामले मे क्या राय है ? मै राजनीति के पडितो से पूछता हू कि वे अपने राजनीति के तत्वो के आधार पर कहे कि ये लाखो लोग मरे, उसकी जिम्मेदारी इस राजसत्ता पर है या नही ? यदि वे इस प्रश्न के उत्तर मे हा कहे तो मैं फिर पूछूगा कि तब यदि हमने 'क्विट इडिया' के मत्र का उच्चारण किया तो उसमे कहा गलती की ? पिछले तीन वर्षों मे यदि वे यह सिद्ध करके दिखाते कि उस मत्र की आवश्यकता नही थी तब भी हम स्वीकार कर लेते कि हमारा मत्र गलत था। परतु भारत के आज तक के शासनकाल मे उन्होने जो पाप किये या कहे कि उनके हाथो हुए, उनपर पिछले तीन वर्षो की घटनाओ के द्वारा कलश चढा दिया गया है। भारत मे इतनी हत्याए हो जाने पर भी वहा वह एमरी क्या कहता है ? "इसके लिए हम जिम्मेदार नही है।" "तब कौन है ?" पूछने पर कहता है—बगाल मे 'प्राविन्शल ऑटोनॉमी' है। उसपर इसकी जिम्मेदारी है। प्राविन्शल ऑटोनॉमी यानी क्या ? वह है प्रान्त के लोगो को मरने की स्वतत्रता। उन्हे वह स्वतत्रता दी गई है और वे उसका निर्वाह कर रहे है। इस प्रकार वह भला आदमी कहता है। तब इसपर हम रोये या हँसे ? इसीलिए हम कहते है कि हमारा मत्र सच्चा था, यह बात अब हजारगुना सिद्ध हो चुकी है। अब उसे छोडने की जरूरत नही, बल्कि उसे पूरा करना है।

उस मत्र को पूरा कैसे किया जाय, इसपर ठीक तरह से विचार किया जाना चाहिए। नदियो मे बाढ आ जाने पर बहुत-सी अमूल्य मिट्टी किनारे पर जम जाती है। बाढ तो जैसी आती है वैसी उतर जाती है, किन्तु यह जमनेवाली मिट्टी बहुत ही कीमती होती है और उसका उपयोग करके अच्छी फसल पैदा की जा सकती है। गगा-जमुना के बीच की दोआब की जमीन बहुत ही उपजाऊ है। उसका कारण बाढ के बाद जमा होनेवाली दोनो नदियो की मिट्टी है। ऐसी मिट्टी को बेकार जाने देना दुर्भाग्य का लक्षण है। उसका उपयोग करने से राष्ट्र का नवनिर्माण होता है और वह

लक्ष्मीवान बनता है। इसी प्रकार पिछले आंदोलन की जबरदस्त बाढ़ आई थी। उसके बाद काफी मिट्टी आकर जमा हुई है। इस आंदोलन ने ऐसे कई कार्यकर्ता सामने आये है, जिन्हे राष्ट्र ने पहले नही पहचाना था या जिन्हे प्रकट होने के लिए ऐसा मौका नही मिला था। इस आंदोलन ने राष्ट्र को ऐसे नये कार्यकर्ता दिये है। इसे मैं इस आंदोलन का सबसे बड़ा लाभ मानता हू।

इन नये लोगो से हमे फसल लेनी चाहिए। उनका सगठन बनाना चाहिए। उनमे परस्पर ऐक्य भाव निर्माण करना चाहिए और उनकी कर्तृत्व-शक्ति को बढाना चाहिए। उत्साह के जोश मे क्षणिक त्याग करना आसान होता है। परन्तु उत्साह का पूजी के रूप मे उपयोग करके उसके आधार पर उसमे वृद्धि करना कठिन काम है। अब वही किया जाना चाहिए। इसलिए आपसे मेरा कहना है कि जिस उत्साह से आपने अगस्त की लड़ाई मे भाग लिया था, उसी उत्साह से अब आप रचनात्मक काम मे लगे। इस काम मे आपको मेरी मदद मिल सकेगी। मेरे पास कुछ लोग है। उनकी सेवा भी आपको मिल सकती है। आपने जिस उत्साह से इतना प्रचण्ड काम किया वही उत्साह आप इस रचनात्मक काम मे भी लगाये। यदि आप यह करेंगे तो दूसरी लड़ाई लड़े बिना ही स्वराज आपके हाथ मे आ जायेगा। किन्तु यदि वैसा न हुआ और लड़ाई लड़नी पड़ी तो पहले की अपेक्षा सौ गुना ताकत से वह लड़ी जा सकेगी। इसलिए हृदय मे सुलगता हुआ अग्निकुण्ड और सिर पर हिमालय की ठडी बर्फ लेकर काम मे लगेंगे और तपस्या करेंगे तो माना जायगा कि आंदोलन का पूरा लाभ उठाया गया है। और मुझे इसमे बिलकुल सदेह नही कि ईश्वर की कृपा से भारत कृतकृत्य होगा।

पिछले आंदोलन मे जिन हुतात्माओं ने बलिदान किया है, उन्हे श्रद्धा-जलि देना हमारा कर्तव्य है और उनका हमे निर्वाह करना है। मेरी [illegible] [illegible] नही है। इन हुतात्माओ के बलिदानो से भारत का [illegible] [illegible] और [illegible] इतिहास आगे [illegible] किया जायगा। किसी उपन्यास [illegible]

को यदि अदभुत रस का कोई उपन्यास लिखने की इच्छा हो तो उसे इस आदोलन मे इतनी सामग्री मिल सकती है कि वह तृप्त हो जायगा। इन हुतात्माओ के स्मरण मे हमे जो प्रार्थना करनी है, वह यह नही कि उन्हे सद्गति प्राप्त हो। उन्हे तो वह प्राप्त हो ही चुकी है। प्रश्न अब हमारी गति का है। हमे अब यह प्रार्थना करनी है कि उनके जैसा बलिदान करने की शक्ति ईश्वर हमे भी दे।

: ३ :

क्रांत दर्शन

आप सबको देखकर मुझे आनंद हो रहा है। मैं अपने कार्यक्रम में मग्न रहता हूं। बाहर बहुत कम जाता हूं। परंतु आपके निमंत्रण को मैं अस्वीकार नहीं कर सका। यही नहीं, बल्कि मुझे स्वीकार करना चाहिए कि उसमें कुछ आकर्षण भी लगा। इसका कारण ढूंढने पर ऐसा लगता है कि आप सब विद्यार्थी हैं और मैं तो हमेशा के लिए एक विद्यार्थी हूं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि सजातीय लोगों में परस्पर आकर्षण और प्रेम हो। और चूंकि मैं भी विद्यार्थी हूं, और आप भी विद्यार्थी हैं, इसलिए उस नाम के कारण ही मुझे विलक्षण आकर्षण लगा।

परन्तु इससे भी और एक बड़ा कारण है। और वह बड़ा जोरदार है। वह यह कि युवकों से मुझे बड़ी आशा है। मैंने सुना है और पढ़ा भी है कि यौवन में अनर्थकारिता होती है, अर्थात् तारुण्य में मनुष्य बहकता जाता है। परन्तु यह केवल प्रवाद है वस्तुस्थिति नहीं। मुझे तो अपने जीवन की अच्छी-से-अच्छी प्रेरणाएं युवावस्था में ही मिली हैं और उन्हीं प्रेरणाओं से मैं अभी तक प्रेरित हो रहा हूं। इसलिए मैं तारुण्य का कृतज्ञ हूं, और मेरे दिल में उसके प्रति आदर है। मैं उसे अनर्थकारी नहीं मानता।

तरुण शब्द का अर्थ क्या है? इसका अर्थ 'तरुण' शब्द से ही प्रकट है। शब्द मुझसे बात करते हैं। वे मुझे अपनी गुत्थी बता देते हैं। 'तरुण' शब्द स्वयं कहता है कि आप समाज के तारक हैं। 'तरुण' यानी तारक, तारण करनेवाला। इसलिए तरुणों पर बहुत-कुछ निर्भर है। मुझे तो तरुणों से बड़ी आशा है। मैं आपसे क्या अपेक्षा करता हूं? मैं आपको बताना चाहता हूं कि मुझे आपसे शांति से रहने की अपेक्षा नहीं है। मैं

सार्वभौम क्रान्ति की आवश्यकता है। जीवन के समस्त क्षेत्रो मे हम क्रांति चाहते है। इसलिए मुझे आपसे सार्वभौम और जीवनव्यापी क्राति की आशा है। आज के नेताओ ने आपको क्रान्ति का मार्ग बता दिया है। फिर भी मैं मानता हू कि यदि क्राति आयगी तो वह नवयुवको और विद्यार्थियो के द्वारा ही आयगी। तरुणो का यह लक्षण है कि वे ससार मे नये-नये विचारो को दाखिल करते है और वीरता के साथ उनपर अमल करते हैं। इसलिए मै मानता हू कि आपको नये विचारो का साथ देना चाहिए और प्रत्यक्ष क्रांति कर दिखाना चाहिए।

क्राति केवल घोषणाओ से नही होती। इसके लिए हर दिशा मे प्रयत्न करना पडता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे परिवर्तन करना होता है। मै देखता हू कि भारत के युवको मे उत्साह तो बहुत है, और मै उत्साह को पसन्द करता हू, परन्तु उत्साह को मैं युवको का बहुत बडा गुण नही मानता। वह एक साधारण लक्षण है। एक बार किसी सस्था ने मुझसे सन्देश मागा। उस सस्था का नाम था 'तरुण उत्साही मण्डल'। मैने कहा—तरुण और उत्साही, यह कैसे ? इसमे द्विरुक्ति है। 'तरुण' शब्द मे उत्साह आ ही गया है। बूढो के लिए अगर कहा जाय कि 'उत्साही बूढे' तो बात कुछ समझ मे आने लायक होगी। उनके लिए इस विशेषण की जरूरत है। बूढो को उत्साह की जरूरत है, परन्तु तरुणो को धीरज की जरूरत होती है। जिसमे उत्साह नही है, उसे तरुण कह ही नही सकते। धीरज उसमे इतना चाहिए कि जिस काम को हाथ मे ले, उसे पूरा करके ही रहे। इसी-को सातत्य कहते है। तरुणो मे धीरज होगा तभी वे क्राति कर सकेगे।

क्राति के लिए क्रान्त दर्शन की जरूरत होती है। अपने आस-पास की परिस्थिति का विश्लेषण करके उस पार छिपी हुई वस्तु को स्पष्ट देखना और देखी हुई वस्तु को कार्यान्वित करना, इस कार्यान्वयन की शक्ति और हिम्मत को क्रात दर्शन कहते है। क्रात दर्शन के मानी है परिस्थिति के गर्भ मे छिपी खूबियो का दर्शन। ऐसा क्रान्त दर्शन होगा तभी क्राति हो सकेगी। क्रात दर्शन के लक्षण क्या है, यह मैं आपको बताता हू। आप मुझसे लम्बे-

नीचे भाषण की नहीं, मार्गदर्शन की अपेक्षा करते हैं और मुझे भी लगता है कि इस विषय में मैं आपका मार्ग-दर्शन कर सकूंगा।

सात दर्शन का पहला लक्षण है साम्ययोग। विद्यार्थियों के लिए साम्ययोग का आचरण कठिन नहीं है। हर प्रकार के भेदभाव को हम मिटा दें। जो पुराने विचारों में उलझे हुए हैं, पुराने संस्कारों में घुसे-घुसे हैं, भेदभावों की आदतों में जकड़े हुए हैं, उनमें अभेद की भावना का निर्माण करना कठिन है। परन्तु विद्यार्थियों के लिए यह बात असंभव नहीं। विद्यार्थी के सामने जीवन का नवीन आदर्श है, और उसमें यह शक्ति होती है कि अपने विचारों के अनुसार आचरण भी कर सके। जिनमें यह हिम्मत नहीं है, वह न तो तरुण है, न बाल। मुझसे एक बार किसीने 'बाल' शब्द का अर्थ पूछा। मैंने कहा जो बलवान् है, जिसके अन्दर हिम्मत है, जो अपनी इच्छा के अनुसार काम कर सकता है, वह बाल है। आप विचारों से ताजा हैं। इसलिए आप साम्ययोग का आचरण अवश्य कर सकते हैं। हिन्दुओं को बड़ा न मानें और मुसलमानों को छोटा न समझें। हरिजनों को नीचा और सवर्णों को ऊंचा भी न समझें। इस प्रकार सारे भेद-भावों को भुला दीजिये। विद्यार्थी तो बचपन से ही समभावी होते हैं। बच्चा पैदा होता है, तब किसी प्रकार का भेदभाव जानता ही नहीं। परन्तु बाद में माता-पिता ही उसपर अनेक प्रकार के भेदभाव के संस्कार डालते हैं। आपको इन संस्कारों से अलिप्त रहने का प्रयत्न करना चाहिए। आप किसीको भी ऊंचा या नीचा न समझें। आज हम अंग्रेजों को ऊंचा समझते हैं और हरिजनों को नीचा। ऊपरवालों की ठोकरें खाते हैं और नीचेवालों को ठुकराते हैं। परन्तु आप न तो किसीकी ठोकरें खायें, न किसीको ठुकरायें। यह साम्ययोग है। और साम्ययोगी किसीको भी अपने से नीचा या ऊंचा न समझें, सबको अपने बराबर और अपने-आपको सबके बराबर समझें।

दूसरा लक्षण है श्रमनिष्ठा। मैं मानता हूं और मेरा दृढ़ विश्वास है, अन्दर-अन्दर भी यही लगता है कि संसार में जितने भी विचार-प्रवाह और वाद जारी हैं उन सबकी जड़ में एक ही बुनियाद काम कर रही है और वही सारी विष-

मता की जड है। यह वृत्ति है खुद काम नही करना और दूसरे के परिश्रम का लाभ उठाना। इसलिए मैं विद्यार्थियो से अपेक्षा रखता हू कि वे परिश्रम की प्रतिष्ठा समझें और लोहार, बढई तथा भगी का काम वे खुद शुरू करे। इस प्रकार के किसी भी काम को नीचा या ऊंचा न समझें। मुझे दुःख के साथ कहना पडता है कि काग्रेस के नेता भी इस बात के महत्व को अभी नही समझे हें। पहले गाधीजी ने सुझाया था कि काग्रेस की सदस्यता-शुल्क के चार आने के स्थान पर सूत लिया जाय। इसमे उनका हेतु यही था कि पैसे के स्थान पर श्रम की स्थापना हो। इसके लिए एक समिति की भी स्थापना की गई थी, परन्तु उसका कुछ भी परिणाम नही हुआ। आखिर चार आनेवाली बात ही कायम रही। आप चार आने के बजाय काग्रेस की सदस्यता का शुल्क भले ही दो आने या दो पैसे भी रख सकते है, परन्तु जबतक पैसे से सदस्य बना जा सकेगा तबतक पैसेवालो की ही प्रतिष्ठा कायम रहेगी। श्रम की प्रतिष्ठा यदि प्रस्थापित करनी है तो स्वय हमे परिश्रम करना शुरू करना चाहिए।

लोग कभी-कभी पूछते है कि हर व्यक्ति के लिए परिश्रम अनिवार्य क्यो किया जाय? मैं पूछता हू कि हर व्यक्ति को भोजन करना क्यो जरूरी है? लोग यह भी पूछते हैं कि ज्ञानी को श्रम का काम क्यो करना चाहिए? वह भाषण क्यो न दे? मैं पूछता हू कि ज्ञानी भोजन क्यो करे, वह ज्ञानामृत से ही क्यो न सन्तुष्ट रहे? उसे खाने, पीने और सोने की जरूरत क्यो हो? यदि हमारे लिए सोना और खाना जरूरी है तो शरीर-श्रम भी जरूरी है। जिस दिन हम खाने की जगह दूसरी कोई चीज शुरू कर देंगे उस दिन श्रम की जरूरत नही रहेगी। परमेश्वर ने प्रत्येक को दिमाग दिया है और हाथ भी दिये है। यदि वह चाहता तो ज्ञानी को केवल दिमाग और मजदूर को केवल हाथ दे सकता था। उसने कुछ लोगो को केवल मस्तिष्कवाला और कुछ लोगो को हाथवाला बनाया होता। परन्तु उसने ऐसा नही किया, क्योकि वह चाहता है कि हर आदमी विचार भी करे और काम भी करे।

श्रम से मतलब है उत्पादक श्रम। जो उत्पादक श्रम नहीं करता वह चोरी करता है।

तीसरा लक्षण बड़ा महत्त्वपूर्ण है। तरुणों को अन्याय के प्रतिकार का व्रत लेना चाहिए। जहां-जहां भी अन्याय दीखे वहां-वहां किसी भी हालत में उसका प्रतिकार किया ही जाना चाहिए। सामाजिक और राजनैतिक, सब प्रकार के अन्यायों के प्रतिकार का व्रत तरुणों को लेना चाहिए।

परन्तु इस व्रत के पालन में हमें अहिंसा का उपयोग करना होगा, क्योंकि हिंसा से अन्याय का प्रतिकार हो ही नहीं सकता। इस युद्ध[1] ने यह बात सिद्ध कर दी है कि मानवता के लिए अहिंसा के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं है। इस युद्ध में एक नया तत्त्व सामने आया है—अनन्य-शरणता। मरनेवाले शत्रु पर शर्त लगाई जाती है कि वह बिना शर्त आत्म-समर्पण करे। बड़े-बड़े राष्ट्र भी, जिनके पास करोड़ों की सेना होती है, इस प्रकार बिना शर्त शरण जाते हैं, क्योंकि वे शस्त्र के आधार पर लड़ते हैं। जो शस्त्रों के बल पर लड़ते हैं, वे अपने से बलवान शत्रु के सामने झुक जाते हैं। जहां शस्त्र-शरणता है वहां अनन्य-शरणता है ही। किन्तु जो शस्त्रों पर नहीं, आत्मबल पर विश्वास करता है वही अन्त तक लड़ते रहने की प्रतिज्ञा कर सकता है। अहिंसा के बल पर एक छोटा-सा बच्चा भी ऐसी प्रतिज्ञा कर सकता है और हम अन्याय के प्रतिकार के व्रत का निर्वाह कर सकते हैं।

परन्तु इन दिनों मैं अखबारों में पढ़ता हूं और लोगों से भी कहते सुनता हूं कि अबतक हमने अहिंसा को बहुत आजमाकर देख लिया। अब तो तोड़-फोड़ का कुछ प्रयोग करने का समय आया है। सन् १९४२ में हमने इस दिशा में कुछ प्रयोग किया है, परन्तु मैं आपसे स्पष्ट कह देना चाहता हूं कि जो लोग इस तरह की बातें आपसे कहते हैं, वे आपको दस-बीस साल और गुलाम रखना चाहते हैं। आप यदि स्वतन्त्र होना चाहते हैं तो आपके पास वह शक्ति है, जिसके बल पर आप स्वतन्त्र हो सकते हैं।

[1] द्वितीय महायुद्ध।

हमारी अगली लडाई ४२ की लडाई से भी बडी होगी, परतु वह अहिसक होगी। उसका स्वरूप राष्ट्रव्यापी होगा। हमे राष्ट्रव्यापी सगठन करना होगा। उसीसे क्राति होगी। इसके लिए हमे जनता की सेवा करनी होगी। तब वाइसराय के अध्यादेश की भाति हमारी सूचना भी पाच मिनट के अदर सारे देश मे फैल जायगी और उसी क्षण सार्वत्रिक हडताल हो जायगी, और जैसाकि सरदार ने कहा था, सात दिन के अदर सारी क्राति सफल हो जायगी। परतु उसके लिए प्रेम और अहिसा का सगठन करना होगा।

अन्त मे एक बात और कह दू—विद्यार्थी राजनीति मे भाग ले या नही ? यह प्रश्न अनेको ने अनेक बार पूछा है। सच बात यह है कि हमारे देश का राष्ट्रीय आदोलन राजनैतिक आदोलन है ही नही। जब घर को आग लगती है तब बुझाने जाय या नही, क्या कोई इस प्रकार प्रश्न पूछता है ? जितनी बडी बालटी उठा सके उठाकर हर आदमी को आग बुझाने के लिए दौड पडना चाहिए। छोटा बच्चा छोटी बालटी लेगा। गुलामी की आग बुझाने मे सभीको भाग लेना चाहिए। विद्यार्थी है तो छोटी बालटी उठायेगा। परतु उठायेगा जरूर।

: ४ :

प्रेम का कार्यक्रम

यह शिविर की कल्पना उपयोगी हो सकती है। जेल में रहते हुए दो-चार बार बोलने का मुझे प्रसंग मिला, तब मैंने कहा था कि सरकार ने हमारे लिए यह मुफ्त का शिविर खोल दिया है। उसमें बड़े-बड़े नेताओं को भी उपस्थित रहने का मौका मिल गया है। आपका यह शिविर तो केवल एक हफ्ते का है, परन्तु वहां तो सरकार ने दो-तीन वर्ष का पूरा प्रबंध कर दिया था। वह स्वयं एक बहुत बड़ा शिविर था। उसका ठीक-ठीक लाभ उठाया गया होता तो बाहर निकलते ही हम तुरत काम में जुट जाते।

जो हो, आज यहां एक शिविर शुरू किया जा रहा है। आपमें से बहुतेरे लोग जेलवाले शिविर में भी जरूर रह आये होंगे, और मेरा खयाल है कि वहां आपने कुछ शिक्षण भी लिया होगा। इस प्रकार के सात दिनवाले शिविरों में बहुत लाभ नहीं हो सकता। मराठी की एक कहावत है—'रात थोड़ी और स्वांग बहुत से ठीक वैसा ही होता है। फिर भी सात दिन में भी कुछ तो जानकारी अवश्य दी जा सकेगी। वैसे देखा जाय तो सात दिन का समय बहुत ही कम है। कम-से-कम एक महीने का समय तो होना ही चाहिए।

बार-बार कहा जाता है कि हमें रचनात्मक कार्य में लग जाना चाहिए। इसलिए रचनात्मक कार्य के मूल में जो वस्तु है, वह मैं आज आपके सामने रख देना चाहता हूं। बात यह है कि हमारा देश बहुत बड़ा है। इसकी आबादी चालीस* करोड़ है। इतना बड़ा राष्ट्र एक महान् शक्ति भी बन

---

* अब तो यह बढ़कर लगभग पैंतालीस करोड़ हो गई है।

मकता है और कमजोर भी बना रह सकता है। यदि हम सबके अदर प्रेम-भाव और एकता होगी तो यह राष्ट्र एक बहुत बडी शक्ति साबित हो सकता है और उसके आधार पर हम अपनी स्वतत्रता अवश्य प्राप्त कर मकेगे। यदि हमारे अदर फूट रही—और फूट का निर्माण होना तो बहुत सरल है—तो यही चालीस करोड की सख्या हमारी दुर्बलता का कारण भी सिद्ध हो सकेगी।

आज हमारे अदर अनेक प्रकार के भेद है—जातिभेद, भाषाभेद, प्रात-भेद, और धर्मभेद। इन भेदों के कारण हमारे अदर असतोष भी है। ये सारे भेद अगरेजो ने पैदा किये, यह कहना ठीक नही होगा। हा, उनके यहा रहने के कारण इनका जोर अवश्य बढ गया है, परतु ये उत्पन्न हुए है हमारे ही कारण। हमारे भेद तो बने रहे, परतु अगरेज उनसे लाभ न उठाये, यह अपेक्षा करना गलत है। यदि वे ऐसा करने लगे, तब तो वही हमारे स्वराज के नेता बन जायगे। भेदो से लाभ उठाकर ही वे यहा रह सकते थे। इस-लिए इन भेदो को हमे खुद मिटाना होगा और अभेद की तरफ अर्थात् प्रेम की ओर जाना होगा। इस प्रकार यदि थोडे मे कहना चाहे तो रचनात्मक कार्यक्रम प्रेम उत्पन्न करने का, प्रेम के प्रकाशन का, प्रेम के विकास का और प्रेमोपलब्धि का कार्यक्रम है। प्रेम की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न, जो रचना, करने की जरूरत है, उसको रचनात्मक कार्यक्रम कहते है।

भारत के दो भाग हैं—उत्तर और दक्षिण। उत्तरवालो को दक्षिण की भाषाए नही आती और दक्षिणवालो को उत्तरकी भाषाए नही आती। उत्तर मे अनेक भाषाए है। उत्तर के लोग कुछ अशो मे एक-दूसरे की भाषा समझ सकते हैं। हिन्दीभाषी यदि बगाल मे चले जाय तो वहा के लोग उनकी भाषा समझ सकेगे। इसी प्रकार हिन्दीभाषी कुछ-न-कुछ बगला समझ ही सकते है। दक्षिण के लोग एक-दूसरे की भाषा कुछ-कुछ समझ लेते है। उदाहरणार्थ तमिलभाषी कुछ-कुछ तेलुगु समझ लेते है और तेलुगुभाषी तमिल भाषा। परतु उत्तर और दक्षिण के बीच भाषा-भेद की एक दीवार खडी है। इस दीवार से अनुचित लाभ उठाकर हमे बडी हानि की जा सकती

है। आपको ज्ञात होगा कि भारत सरकार ने अपनी सेना के दो भाग किये हैं—उत्तर और दक्षिण। यदि उत्तर मे कही उपद्रव हुआ तो वहा दक्षिण की सेना भेजी जा सकती है और क्योंकि उत्तर के लोगो की भाषा वे समझ नही पाते, इसलिए वे उत्तर भारत के अपने भाइयो से विदेशियो के समान लड सकते है। इसी प्रकार यदि दक्षिण मे कही बगावत हुई तो उत्तर की सेना वहा भेजी जा सकती है। इस भांति हमारे इन दो भागो का अनुचित लाभ उठाया जा सकता है। इतिहास के जानकारो को ज्ञात है कि सन् १८५७ के गदर मे हमारे भेद का इस तरह लाभ उठाया भी गया था।

इसलिए हमारे लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम सब ऐसी किसी एक भाषा का अभ्यास करें, जिसे उत्तर और दक्षिण के लोग समान रूप से समझ सकें। इसका हेतु स्पष्ट ही ज्ञान-प्राप्ति नही है। लोग मुझसे पूछते है कि आप लोगों ने हिन्दुस्तानी शुरू की है, इससे क्या लाभ होगा? उसके साहित्य मे ऐसी कौन-सी विशेषता होगी? मैं कहता हू कि उसका हेतु ज्ञान की प्राप्ति है ही नही। वह तो केवल प्रेम के व्यवहार के लिए है। हमे आपस में प्रेम बढ़ाना है।

इसलिए दक्षिण के लोगो को उत्तर के लोगों की भाषा सीखनी चाहिए और उत्तर के लोगों को दक्षिण की कोई भाषा सीखने का प्रयत्न करना चाहिए। मैं जानता हू कि इस दूसरी बात के लिए देश मे कोई हलचल नहीं है। क्योंकि हिन्दुस्तानी हमारी राष्ट्रभाषा है, इसलिए दक्षिण की भाषाएं सीखने का कोई प्रयत्न न करे, यह उचित नही है।

उत्तर भारत मे हिन्दू और मुसलमान दोनो ही रहते है। उनमें से कुछ नागरी लिपि मे लिखते है और कुछ उर्दू लिपि मे। आजकल साधारणतः मुसलमान उर्दू मे लिखते है। उनके समाचार-पत्र भी उर्दू मे छपते है। हिन्दू नागरी मे लिखते है और उनके समाचार-पत्र भी नागरी मे छपते है। मैं 'साधारणतः' इसलिए कहता हू कि हिन्दुओं के कुछ समाचार-पत्र उर्दू मे भी छपते होंगे और मुसलमानो के भी कोई पत्र शायद नागरी मे छपते हों। परन्तु दोनों लिपियां यदि सीखी जायं तो हिन्दू और मुसलमान दोनों पर-

दूसरे के निकट पहुच सकते है। इसमे भी मुख्य उद्देश्य ज्ञान-सपादन नही, प्रेम-सपादन ही है। यो देखा जाय तो हर आदमी के दिल मे प्रेम होगा और प्रत्येक प्रान्त की स्वायत्तता यदि अहिसा पर अर्थात् दूसरे प्रान्त के अविरोध पर आधारित है तो अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषा सीखने की अनिवार्य जिम्मेदारी किसीपर लादने की जरूरत नही रह जाती। इसके विपरीत यदि मन मे द्वेष-भाव हो तो दूसरे के छिद्र जानने के लिए भी भाषाओ का अध्ययन किया जा सकता है। इस दृष्टि से दो नही, दस लिपियो और दस भाषाओ का भी यदि ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय, तो भी हमारी दृष्टि से वह व्यर्थ है। इसलिए महत्व की बात है प्रेम बढाने की, अधिक लिपिया और अधिक भाषाए सीखने की नही। इस बात को समझ लेगे तो यह प्रश्न ही खडा नही होगा कि हमपर अमुक भाषा और अमुक लिपि जबरदस्ती क्यो लादी जाती है।

अगरेजो के आने से पहले हमारे देश मे आज की भाति गावो और शहरो के बीच ऐसी दीवारे नही थी। आज जो भी थोडा-सा पढ लेता है, वह अपने गाव को छोडकर शहर मे आकर बैठ जाता है और गावो का शोषण करने लग जाता है। उसे केवल अगरेजी भाषा सिखाई जाती है। इस कारण वह गावो की कुछ भी सेवा नही कर सकता। पुराने जमाने मे विद्वान भी गावो मे रहते थे। आज तो कोई पढा-लिखा वहा रहना नही चाहता। शासको ने अपना शासन चलाने के लिए नौकरी-पेशा वर्ग इसी-लिए निर्माण किया कि गावो को लूटने मे वह अगरेजो की मदद कर सके।

इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारे साहित्य का भी लोक-शिक्षण के काम मे कोई उपयोग नही हो सकता। यहापर साहित्य वगैरा के विषय मे आपकी जो चर्चाए चलती है, इन्हे गावो मे कौन पढता है ? हमारी भाषा मे इतने छापाखाने हैं, परतु गावो मे घर-घर कौन-सी किताब पहुची है ? इसका कोई जवाब नही मिलता। इसके विपरीत तुलसी-रामायण जैसी कृति कभी से घर-घर पहुच चुकी है। मैने सुना है कि रवीन्द्रनाथ जैसे महाकवि की रचनाए भी बगाल के गावो मे नही पहुच सकी है। वे केवल ऊपर के वर्गों

दोष खुद-ब-खुद सुधार लेंगे। हमारे यहा शास्त्रकारो के ऐसे वचन भी है, जिनमे स्त्रियो को पुरुषो की बराबरी का स्थान दिया गया है। परंतु आज हमारे यहा स्त्री-पुरुषो मे भेद है, इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता। इन दोनो मे जितने कृत्रिम भेद है, उन सभीको हमे अवश्य ही दूर कर देना चाहिए।

इसी प्रकार छुआछूत के भेद को भी हमे दूर करना है। मैंने प्रारभ मे ही पूछा था कि इस शिविर मे हरिजन कितने हैं ? (बताया गया था कि ११ हरिजन और ३ मुसलमानो-सहित कुल २०० स्वयसेवक शिविर मे हैं।) हमारा व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि हमारे बीच कोई भेद रहे ही नही। मेरी राय तो यह है कि हर घर मे एक हरिजन लडका नौकर के रूप मे नही, औरस पुत्र के रूप मे रहना चाहिए। घर मे तीन लडके हो तो चार समझकर उसकी सारी जिम्मेदारी उठानी चाहिए। लोग मुझसे प्राय पूछते है कि कोई ऐसी देश-सेवा बताइये, जो हम घरबैठे कर सके। तो मैं तुरत कहता हू कि एक-एक हरिजन लडका अपने घर मे रख लीजिये। तब वे औरतो की आड मे अपनी कमजोरी को छिपाने लगते है। मैं कहता हू कि अस्पृश्यता-निवारण के काम मे जितनी देरी होगी उतनी ही देरी स्वराज की प्राप्ति मे होनेवाली है। हमारे नेता कहते हैं कि हिंदू-मुसलमानो का भेद अगरेजो ने पैदा किया है। पर मै पूछता हू, छुआछूत को दूर करने मे अगरेज आपको कहा रोक रहे हैं ? अगर उनकी तरफ से इसमे कोई रुकावट नही और आप उसे धीरे-धीरे दूर करना चाहते है तो स्वराज भी धीरे-धीरे मिलेगा।

मजदूरो के नेता पडित नेहरू से कहते है कि जरा धीरे चलिये, हमे मौका तो दीजिये। इसी प्रकार अगर हम भी हरिजनो से कहेंगे कि जरा सब्र कीजिये, तो जैसाकि अम्बेदकर कहते हैं, वे यही समझेंगे कि हमारी नीयत ही ठीक नही है। यहा महाराष्ट्र के हरिजनो मे अम्बेदकर की ही बात क्यो सुनी जाती है, इसीलिए कि अम्बेदकर उन्हींमे मे है। हम अगरेजो को गालिया दे सकते हैं तो हरिजन भी हमे गालिया दे सकते है। यदि मैं

हरिजन होता तो अभीतक क्या कर गुजरता, कह नही सकता। शायद मेरी आत्मा भी विचलित हो जाती। कितनी लज्जाजनक अवस्था है यह! बिल्ली और कुत्ते भी हमारे पास आ सकते है, परन्तु अपने हरिजन भाइयों पर हमने अनेक प्रकार की सख्त पाबंदिया लगा रखी है। क्या इन सबको सहा जा सकता है?

इसलिए रचनात्मक कार्यक्रम मे अस्पृश्यता निवारण का महत्व बहुत अधिक है। सारा-का-सारा रचनात्मक कार्यक्रम प्रेम का कार्यक्रम है। आपको इस दृष्टि से ही देखना चाहिए और जितना भी अधिक इसपर अमल कर सके, करने का प्रयत्न करना चाहिए।

५ :

हमारी धर्म-हीनता

हम कहते है कि भारत धर्म-प्रधान देश है। यह हमारी पुण्य-भूमि है। ऐसा समय-असमय हम अभिमान प्रकट करते रहते है। बाहर के लोग भी हमारे बारे मे यही कहते है। उनके प्रमाण-पत्र से तो हम और भी फूल जाते है। प्रसिद्ध चीनी लेखक लिन युटाग ने लिखा है कि "भारत धर्म-भावना में अभिमन्त्रित तथा ईश्वरी मद्य से मतवाला (गॉड-इन्टॉक्सिवेटेड) देश है।" इस विषय मे चीन और भारत मे कितना अन्तर है, यह बताते हुए वह कहता है, "चीन भारत के दूसरे सिरे पर है। चीन अति व्यावहारिक है। भारत अति धार्मिक है। दोनो राष्ट्रो को अपना-अपना यह अतिरेक कम करना चाहिए।"

परन्तु आज हमारे देश की हालत क्या है ? हममे आज अति धार्मिकता दीखती है या वह आवश्यकतानुरूप है या धर्म-हीनता है ? लाखो लोग भूखे मर गये, फिर भी कालाबाजार जारी ही रहा। आज हमारी सरकारे आ गई। फिर भी कोई खास फर्क नही दिखाई देता। एक मजदूर कह रहा था, "कन्ट्रोल का भाव है रुपये की पाच सेर ज्वार। बाहर के व्यापारी आते है और चार सेर के थोक भाव मे चुपचाप माल ले जाते हैं और हम मजदूरो को फुटकर खरीदनी पडती है, इसलिए तीन सेर की मिलती है। आज कहते हैं, हमारा स्वराज है। यह कैसा स्वराज ? जहा कालाबाजार चलता है, वहा स्वराज कैसे हो सकता है ?" यह है उस अपढ ग्रामीण की कल्पना। हम 'पढे-लिखे' इसका क्या जवाब देगे ?

एक बार एक खुदरा व्यापारी से बातचीत करने का प्रसग आया। वह कहने लगा, "आप 'कालाबाजार-कालाबाजार' कहते है। परन्तु

हमारा तो यह सदा का धंधा है। कमाई के अवसर को खोनेवाला व्यापारी व्यापारी ही नहीं है। चीज सस्ते-से-सस्ते भाव में खरीदी जाय, और भाव ऊंचे-से-ऊंचा पहुंच जाय तब तक रखकर प्रत्यक्ष बेचते समय जिस भाव में बिकते बने, उस भाव में बेचना, यह हमारा हमेशा का नियम है। आज की हालत में यह लोगों को अखरता अधिक है, केवल इतनी-सी बात है और इसके लिए कोई इक्का-दुक्का व्यापारी जिम्मेदार है, सो बात नहीं। कुल मिलाकर आज की व्यवस्था ही इसके लिए जिम्मेदार है। इसे बदलने का काम सरकार का है। सरकार इसे ठीक नहीं कर पा रही। ऐसी हालत में आपके कहने के अनुसार कोई अकेला व्यापारी सज्जनता बरते तो वह हमारे धंधे की भाषा में 'प्रामाणिकता' नहीं, 'मूर्खता' होगी।"

यह है उस व्यापारी की बात। अपनी दृष्टि से उसने अपनी बात बिलकुल शुद्ध बुद्धि से कही थी। किन्तु उसकी बात सुनकर मैं विचार में पड़ गया। आज के काले बाजार को छोड़कर मैं हमेशा के सफेद बाजार पर विचार करने लगा। भारत के किसी भी शहर या गांव के बाजार में प्रति-दिन क्या होता रहता है? दुकानदार और ग्राहक एक-दूसरे की ओर किस दृष्टि से देखते हैं? दुकानदार अपनी चीज की उचित से अधिक कीमत बढ़ाकर बताता है, ग्राहक उसे उचित से कम मूल्य में मांगता है। कुछ देर चतुराई की पैंतरेबाजी चलती है और अन्त में कुछ भाव तय होता है। क्या यही तो भारत के बाजारों की स्थिति है? दूसरों की बात छोड़िये। परन्तु क्या दुकानदारों को कभी यह भी ख्याल होता है कि बाजार में यदि एक बच्चा आ जाय तो उसे धोखा न दें? इसके विपरीत हमारे दुकानदार यही न समझते हैं कि ठगने का मौका यही है? और यह वृत्ति सभी बेचने-वाली ग्रामीण मालिन से लेकर व्यवसाय-निष्णात व्यापारी तक में है। ग्रामीण उसमें इतना कुशल नहीं होता, शहरी कुशल हो जाता है। परन्तु भावना तो धोखे का ही होता है।

नागपुर में एक बार मैं बुनकरों से बातें कर रहा था। खादी-आन्दोलन उस समय शुरू ही हुआ था और बुनकरों को एक प्रकार की [illegible]

दृष्टि से देखा जाने लगा था। यद्यपि वे बुनते तो थे मिल का ही सूत, तथापि उन्हे आशा होने लगी थी कि अब हमारी तरक्की के दिन आनेवाले है। 'सीगो की बनी चिकनी (शटल) ढरकियो से वे बुनते थे। हम ढरकिया खरीदना चाहते थे। हमने भाव पूछा। उन्होने देखा कि ये पढे-लिखे देशभक्त लोग है। उत्साह मे आकर बुनाई का काम करना चाहते है। ढरकियो की कीमतो का इन्हे कहा से पता होगा ? सीग की ढरकी देखने मे सुन्दर होती है, इसलिए माकूल कीमत मागने मे हर्ज नही। उन्होने एक ढरकी की कीमत छ रुपये मागी। हममे से एक भाई कुछ जानकार थे। उन्होने आठ आने बताये। मुझे कुछ धुधली याद है कि अन्त मे हमने वह ढरकी कुछ आनो मे ही खरीदी थी।

एक बार मै पैदल यात्रा कर रहा था। एक दिन दूध लेने के लिए हलवाई की दुकान पर गया। मैने योही पूछा, "दूध मे पानी-वानी तो नही मिलाया ?" वह बोला, "यह क्या कह रहे है आप ? आज एकादशी है न ?" मैने कहा—"तब, क्या दूसरे दिनो मे पानी डाला जाता है ?" वह कहने लगा, "आटे मे जिस प्रकार नमक डाला जाता है, उसी प्रकार व्यापार मे कुछ असत्य जरूरी होता है। इसके बगैर व्यापार चल ही नही सकता।" जो लोग अपने-आपको वास्तविक रूप मे धार्मिक समझते है, वे भी कहते सुने गए है कि व्यापार को धर्म के साथ नही मिलाया जा सकता। धर्म के समय धर्म और व्यापार के समय व्यापार हो। यो वे दान-धर्म करेंगे, कोई दुखी नजर आया तो दयाभाव भी दिखायेंगे, परन्तु व्यवहार मे सत्य को स्वीकार करने के लिए वे कभी तैयार नही होते।

इस प्रकार अपने नित्य के व्यवहार मे जिन्हे असत्य का उपयोग करने की आदत हो जाती है, उन्हे कालेबाजार मे कोई खास कालापन दिखाई नही देता। जिस राष्ट्र के बाजार मे असत्य चालू सिक्के के समान है, उसके पतन की भी कोई सीमा है ? हम मानते है कि दोसौ वर्ष तक पराधीनता मे रहने का ही यह परिणाम है। फिर भी परिणाम चाहे जिस किसीका हो, परन्तु इस नैतिक हानि की ओर ध्यान न देने से काम नही होगा।

मतलब यह है कि हमे स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि आज हम अत्यंत धर्महीन हो गये हैं और जो भी उपाय-योजना करनी हो, बहुत सोच-समझ-कर, दूर दृष्टि से करनी चाहिए। केवल आतंक उत्पन्न करनेवाले तात्कालिक उपाय से काम नही चलेगा। सारी समाज-रचना को बदलकर साम्य पर अधिष्ठित नई अर्थ-व्यवस्था करनी होगी। इतने मे भी काम नही चलेगा। अपनी धार्मिक कल्पनाओ का भी हमे संशोधन करना होगा। केवल भूतदया न रखकर व्यवहार मे हमे सत्य को स्थापित करना चाहिए। आज केवल व्यापार-व्यवसाय मे ही नही, साहित्य, देश-सेवा और धर्म के क्षेत्र मे भी असत्य उजले मुह से घूम रहा है। वहा से उसे निकाल बाहर किया जाना चाहिए, नही तो इन सारे क्षेत्रो मे जबतक उसका निर्भयता के साथ संचार होता रहेगा, केवल दण्ड के भय से अथवा भूतदया के नाम पर राष्ट्र पर छाया हुआ यह महान संकट टल नही सकेगा। समस्त विचारको, समाज-सेवको, धर्म-साधको, शिक्षा-शास्त्रियो, कार्यकर्ताओ और प्रबन्धको को मिलकर यह काम करना चाहिए।

: ६ :

आज के युग में समत्व

भारत की आज की स्थिति वडी कठिन है। हमारे हाथो मे सत्ता के आते ही क्या-क्या घटनाए हो रही है, उन्हे आप जानते ही नही है। आज स्वराज बिलकुल नजदीक-सा आ गया है। परतु अब यह आशका भी होने लगी है कि कही वह फिर दूर न चला जाय। इसलिए मै कहता हू कि भारत के स्वराज का प्रश्न मूलत हमारी सामाजिक एकता का प्रश्न है। यदि हम एक होकर रहते है, तो स्वराज हमारे हाथो मे है। वह कभी जा नहीं सकता। परतु यदि हममे फूट पड गई तो वह दुर्लभ हो जायगा।

गाधीजी ने अपने जीवन के द्वारा पिछले पच्चीस वर्षो मे हमसे यही बात कही। परतु इतने दिनो के प्रचार और प्रयत्नो के बाद भी हम देखते हैं कि भारत के लोग अभी जगे नही है। गाधीजी ने हमको एक शब्द दिया—'अहिंसा'। अहिंसा का अर्थ निष्क्रियता है ही नही। अहिसा एक महान शक्ति है। शक्ति की उपासना करनी पडती है। अहिसा की उपासना का अर्थ क्या है? यही कि भारत मे हम जितने भी लोग रहते है, सबको भाई-भाई की तरह रहना चाहिए। आपस मे प्रेम का व्यवहार करना चाहिए। हम किसीको न नीच समझे, न किसीको ऊचा ही, न किसीको दबाये, न किसीसे डरे। यह है अहिंसा की उपासना। इस प्रकार हम जरूर बलवान हो सकते है। फिर भारत को किसी भी शस्त्र की जरूरत नही रहेगी। परतु इसके विपरीत हम प्रेम से नही रहेगे तो भारत मे जितने भी प्रश्न खडे होगे उनका निर्णय मार-पीट और हिसा के द्वारा ही करना पडेगा, यानी यही होगा कि तीसरी सत्ता का राज्य रहेगा।

इसलिए मेरा तो शस्त्र-शक्ति पर लेशमात्र भी विश्वास नही है। शस्त्र

दुर्बल होता है। उसमे अपनी कोई शक्ति नही होती। हम अपना बल उसमे देते है तब उसमे बल आता है। तब उसे अपनी शक्ति देने के बजाय हम अपने-आपको ही यह बल क्यो न दे? इसीलिए गाधीजी ने आत्मशक्ति हमारे सामने रक्खी।

हरिजनो और सवर्णों का भेद मिटे, इसके लिए गाधीजी ने सन् १९३२ मे उपवास किया था। इतने समय मे अस्पृश्यता कुछ ढीली अवश्य हो गई है, परन्तु निर्मूल नही हुई। मुझे ऐसा लगता है कि अब हमारे लोगो के मन तैयार हो गये हैं। कुछ प्रयत्न किया जाय तो अस्पृश्यता दूर हो सकती है।

सर्व-सामान्य जनता मे सदा ही एक प्रकार की जडता रहती है। इसे शास्त्र मे 'इनर्शिया' कहते है। इनर्शिया समाज की स्थिरता के लिए कुछ लाभप्रद भी होता है। इनर्शिया के माने है पूर्वस्थिति का बना रहना। यत्र जब बद हो जाता है तब बद ही पडा रहता है, और चलता है तो चलता ही रहता है। उसकी स्वतत्र शक्ति नही होती। इसी प्रकार इनर्शिया के कारण जनता को स्वतत्र रूप से कुछ सूझ नही पडता। परन्तु नेता यदि कुछ चालना दे दें तो जनता मे भी कुछ हलचल शुरू हो जाती है। एक गाव मे हरिजनो के लिए मदिर खोल दिया गया, क्योकि वहा के बडे लोग अनुकूल थे। दूसरे गाव मे यह नही हो सका, क्योकि वहा के बडे लोग अनुकूल नही थे। परन्तु इस प्रकार हमारा काम नही होगा। मैने सुना है कि मद्रास और उत्कल (उडीसा) मे कुछ मदिर हरिजनो के लिए खोले जा रहे है। महाराष्ट्र मे भी कुछ मदिर हरिजनो के लिए खोले जा रहे हैं। परन्तु इस समय तो सारे-के-सारे मदिर खुल जाने चाहिए। आज मैं गणित से काम नही लेना चाहता। यह क्राति का समय है। क्राति धीरे-धीरे नही होती। सारे मदिर, सारे होटल, सारे सार्वजनिक स्थान हरिजनो के लिए एकदम खुल जाने चाहिए।

मेरी भविष्यवाणी है कि जिस दिन भारत से अस्पृश्यता दूर हो जायगी उसी दिन हिन्दू-मुसलमानो के झगडे भी अपने-आप समाप्त हो जायगे। इतिहास के जानकारो को यह बात समझ मे आ सकती है। [illegible] के राज

सज्जन कह रहे थे कि हमारे यहा लिगायत-ब्राह्मणवाद बहुत है। महाराष्ट्र मे ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरवाद है। परन्तु जिस दिन अस्पृश्यता दूर होगी उस दिन ये सारे वाद अपने-आप समाप्त हो जायगे। जो लोग सबसे अधिक दुखी और दवे हुए है, उनको ऊपर उठाते ही अन्य छोटे-मोटे भेद-भाव सहज ही मिट जायगे। उनको मिटाने के लिए स्वतत्र प्रयत्न करने की जरूरत नही रहेगी।

होटलवाले कहते है, "हरिजनो को कैसे अदर आने दे?" मै कहता हू—"अरे भाई, आप तो सेवक है न? सेवक का धर्म क्या है? क्या डाक्टर अस्पताल मे आनेवाले की जात-बिरादरी की पूछताछ करते है? उनका धर्म और कर्तव्य है कि वहा जो भी रोगी आवे, उसकी सेवा करे। इसी प्रकार आप होटलवालो का धर्म है कि जो भी भूखा आये, उसे खाना दे। खाना देना एक जन-सेवा है। मेहनत के पैसे ले लिये, इस कारण उसमे से सेवा नही चली जाती। इसमे तो जात-पात पूछने का प्रश्न ही खडा नही होना चाहिए। खैर, मान लीजिये कि आपने किसीसे जात पूछी और उसने हरिजन होने पर भी कह दिया कि मै मराठा हू, तो आप कैसे पहचानेगे? इसलिए मैं जात-पात पूछना एक वाहियात चीज समझता हू। सच्ची धार्मिक वृत्ति का आदमी भूखे को प्रेम से खिलायेगा। वह जात-पात का विचार नही करेगा। दुखी मनुष्य का दुःख दूर करना दयावान मनुष्य का काम है। यह हमारी पुरानी परपरा है।

जो बात होटल के लिए है, वही बात मन्दिर के लिए भी है। यो तो सर्वत्र ईश्वर है, परन्तु मनुष्य मन्दिर मे भावना लेकर दर्शन के लिए जाता है। पुजारियो को समझना चाहिए कि यदि एक आदमी भगवान से मिलने के लिए आया है तो उनका काम भगवान और उसके भक्त को मिला देना है। मन्दिर मे पापी को भी आना चाहिए और अपने पाप के लिए क्षमा मागनी चाहिए और भक्त को भी आना चाहिए और भक्ति भाव से प्रणाम करना चाहिए। 'तू आ' और 'तू मत आ' यह कहनेवाला मै कौन? हरिजन पढरपुर को जाता है और उसे पाडुरग के दर्शन भी नही हो पाते।

मन्दिर के कलश को देखकर वह लौट आता है और मांस खाना छोड देता है। ऐसे अनेक हरिजनो को मैंने देखा है, परन्तु उन्हे मंदिर मे नही आने दिया जाता। इसके विपरीत दूसरी जातियों के लोग, जो मास भी खाते होंगे, मंदिर मे आते हैं। यह कैसा न्याय ?

यह सब विवेक के अभाव मे होता है। मैं तो स्पष्ट रूप से कहता हू कि धर्म, संस्कृति और पथो की केवल समत्व की कसौटी पर ही परीक्षा होनी है। जो विचार समत्व की कसौटी पर खरा नही उतरेगा वह टिक नही सकेगा। भिन्न-भिन्न युगो मे भिन्न-भिन्न गुणो की सत्ता चलती है। इस युग का सम्राट् समत्व है। इसलिए धर्म के नाम पर भेद आज ससार को कदापि बरदाश्त नही होगा। मुझे बहुत-से हिन्दूसभावाले मिलते है और कहते है कि कांग्रेस हिन्दुओ की रक्षा नही कर सकती। उनसे मैं पूछता हू कि आप क्यो नही करते ? मुसलमानो के द्वेष पर अपनी इमारत खडी करने की अपेक्षा हिन्दू समाज मे लगे हुए फूट के कीडो को मारने मे आप अपनी शक्ति क्यो नही लगाते ? सारे भारत मे अब भेद नाम की चीज का कोई उपयोग नही है।

परतु जब मैं भेद दूर करने की बात कहता हू तो कोई मेरा मतलब यह न समझे कि मैं विशेषताओ को मिटा देना चाहता हू। स र ग म के स्वर-भेद से जिस प्रकार सुन्दर सगीत निकलता है, उसी प्रकार हमारी इन असंख्य विशेषताओ मे से भी एक सुन्दर सगीत निकलना चाहिए।

भारत मे अनेक धर्म, अनेक जातिया, अनेक भाषाए और अनेक पंथ है। लोग कहते हैं कि कैसी अजीब खिचडी है ? मैं कहता हू यह खिचडी नही, कल्पवृक्ष है। रवीन्द्रनाथ ने तो इसे महासागर की उपमा दी। महासागर पर जिस प्रकार अनंत लहरें उठती रहती हैं, उसी प्रकार यहा पर भी अनेक मानव-समाज आन्दोलन करते रहते हैं। यह हमारा वैभव है। भगवान अगर मुझे हाथ, पाव, कान, नाक, आदि इस प्रकार विविध अवयव न देकर केवल मांस-पिण्ड ही बना देता तो मेरी क्या हालत होती ? इसके [illegible]

यदि मेरे ये विविध अवयव आपस मे लडने लग जाय तो मेरी क्या हालत होगी ?

भारत मे बहुत-से भेद है, क्योकि हमारा यह देश बहुत प्राचीन है। पश्चिम के ये अनेक राष्ट्र उसके सामने बच्चे है। भारत मे हूण आये, यहूदी आये, पारसी आये, मुसलमान आये। और ईसाई आदि सभी आये। यह एक बहुत बडा सग्रहालय है। यहापर अनेक शास्त्र, अनेक विद्याए, तथा कलाए विकसित हुई है। इसीलिए मैं कहता हू कि यह देश बडा वैभव-शाली है। परन्तु हृदय मे प्रेम का उदय होना चाहिए, तभी इसकी शक्ति प्रकट होगी।

शक्ति से मुझे शक्तिदेवी की याद आती है। शक्तिदेवी की अनेक भुजाए होती है, परतु हृदय एक ही होता है। विराट पुरुष के हजारो हाथ कहे गए है, परतु हृदय एक ही बताया गया है। इसी प्रकार हमारा सबका हृदय एक ही होना चाहिए। यदि ऐसा होगा तो स्वराज हाथ मे ही हैं, अन्यथा समझिये हाथो मे आया हुआ स्वराज भी चला जायगा।

: ७ :

सेवा द्वारा क्रांति

आपके इस प्रान्त में मुझे पच्चीस वर्ष हो गये। परन्तु इतने वर्षों में आपके सामने बोलने का यह पहला ही प्रसंग है। मराठी में कहावत है—"भाऊ-भाऊ शेजारीं भेंट नाहीं संसारीं।" इसी तरह आप और मैं इतने पास होते हुए भी मैं यहां नहीं आ सका, क्योंकि मैं रहता हूं काम में मग्न और दूसरे बोलनेवाले लोग काफी हैं। मैं यथासंभव बोलने को टालता हूं। लोग कहते हैं कि आपको बोलना तो आता है, फिर बोलते क्यों नहीं? मैं कहता हूं, "मैं बोलना जानता हूं, इसीलिए नहीं बोलता। अगर बोलना याद नहीं होता तो बहुत बोलता।" वे कहते हैं, "आपको बोलना चाहिए।" मैं कहता हूं, "मेरी एक शर्त है। आप बोलना बन्द कर दीजिये, फिर मैं बोलूंगा।"

यदि आप विचार करें तो आप देखेंगे कि भारत में कभी काम करने की जितनी जरूरत नहीं थी उतनी आज है। हम कहते हैं कि आज हमारे हाथों में सत्ता आ गई है, परन्तु सच्ची सत्ता अभी नहीं आई है। अभी तो हम केवल स्वराज के मार्ग पर आये हैं। सत्ता के हाथ लगते ही अनेक भयों का निर्माण होता है। यदि इन भयों को टालना हो तो निरन्तर सेवा करते रहना चाहिए। कांग्रेस का यह दावा था और आज भी है कि वह गरीबों के लिए स्वराज चाहती है। गरीबों की सेवा का दावा करनेवाली और उनके लिए लड़नेवाली इतनी बड़ी संस्था सारे संसार में नहीं है और यदि कांग्रेस का इतना बड़ा दावा है तो उसे सही सिद्ध करने की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है। आज ऐसी स्थिति है कि जिस प्रकार नदियां नाले ऊपर से नीचे की ओर दौड़कर जाती हैं, उसी प्रकार जनता के समस्त सेवकों को आज

चारो तरफ से सेवा के लिए दौड पडना चाहिए। यदि हम ऐसा नही करेगे तो जनता निरकुश हो जायगी और कार्यकर्ताओ को आलस्य घेर लेगा। यह सब सेवा से ही टाला जा सकता है। सेवा के बगैर ये दोप दूर नही होगे।

सर्वसाधारण लोग निरकुश हो जायगे, मेरे इस कथन का अनुभव अभी से होने लगा है। कितनी छोटी-छोटी बातो पर हडताल हो जाती है ? इसमे आश्चर्य की कोई बात ही नही। सैंकडो वर्षो से दबी हुई जनता इससे अधिक उच्छृखल नही हुई, यही आश्चर्य की बात है। यह सब सेवा से ही टल सकता है। मार-पीट, उपद्रव आदि को रोकने का सेवा को छोडकर दूसरा कोई उपाय नही है।

काग्रेस का दावा ग्रामराज की स्थापना करने का हे। गावो को सगठित और स्वावलम्वी करना है। यदि ऐसा है तो हमे इस वात की चिता रखनी चाहिए कि आज एक भी आदमी भूखा न रहे। गाव की सफाई, शिक्षण आदि का प्रबन्ध कौन करेगा ? यदि हम सोचेगे कि सरकार सबकुछ करेगी तो यह गलत होगा। सरकार के हाथो मे जो सत्ता आई है, केवल उसके भरोसे अगर रहेगे तो हम परावलबी वन जायगे। इसलिए हमे सबसे पहले,स्वावलम्वी वनना चाहिए। जिन दिनो हमारे हाथ मे सत्ता नही थी, उस समय गरीबो मे जाकर काम करने मे अनेक प्रकार की रुकावटे आती थी। आज सरकार आपकी है। इसलिए गावो के लोगो से जाकर हमे कहना चाहिए कि भाइयो, अब आप अपनी स्वतन्त्र सरकार बना लीजिये। अपना न्याय आप ही करे और अपनी शिक्षा आप ही सभाले। अपने गाव का सारा काम खुद आपको कर लेना चाहिए।

कोई कहता है, मै जेल मे गया था, मुझे चुनकर क्यो नही भेजते ? मैंने इतने-इतने काम किये, फिर मुझे अमुक पद क्यो नही दिया जाता ? यदि इसी प्रकार सब कोई अपने हक और उसका उपभोग करने की वृत्ति जताने लगे तो समझ लीजिये कि क्षय का प्रारभ हो गया। जरा से त्याग मे यदि भोग-वृत्ति बढती है तो यह स्वराज टिकनेवाला नही है। हमे सिर्फ

अपने स्वराज की रक्षा ही नहीं करनी है, बल्कि समस्त संसार की स्वतन्त्रता को सिद्ध करना है। झण्डे के गीत के अनुसार हमे विश्व-विजय करना है, यानी समस्त संसार मे एक भी राष्ट्र गुलाम नही रहेगा, ऐसी स्थिति बनानी है। जबतक यह नही होता, हमारा कार्य अधूरा ही माना जायगा और यदि यह सब करना है तो कार्यकर्ताओ के अलसाने से काम नही चलेगा। इसलिए मैंने कहा है कि आज सेवा करने का समय है। जिस-जिसके मन मे लगन है, उसे अपने-आप जो भी सेवा बन पडे, उसे करने के लिए दौड पडना चाहिए।

एक सज्जन ने मुझसे पूछा, "हम गृहस्थ है। हम बहुत अधिक तो नही कर सकते, परन्तु यह बताइये कि घर पर बैठे-बैठे हम क्या कर सकते है ?" मैंने कहा, "घर पर बैठे-बैठे आप जो कर सकते है, ऐसा ही काम आपको बताऊगा। अपने घर मे एक हरिजन बच्चे को रख लीजिये। आपके तीन लडके है तो उसे चौथा लडका समझ ले। क्या चार लडके होते तो उसे आप छोड देते ?" तब वह सज्जन कहने लगे, "फिर तो लोग हमे गाव मे रहने भी नही देंगे।" मैंने कहा, "यही तो हमे करना है। इसीको तो क्रांति कहते है।" घर से शुरू कर ठेठ समाज-स्तर तक पहुच जाय, हमे ऐसा आदोलन करना चाहिए। लोग कहते है, "हमारे मन मे अस्पृश्यता नही है।" मैं कहता हू, "आपके मन को कौन पूछता है ? आप अपने घर मे हरिजन को रखने के लिए तैयार है क्या ?" तब वे कहते है, "घर मे मा राजी नही होती।" मैं कहता हू, "मा हरिजन को जहा बैठाये, वहा आप भी बैठे।" सच तो यह है कि यह सब टालने की बात है।

मुझसे विद्यार्थी हमेशा कहते है, "हमे क्रांतिकारी कार्यक्रम चाहिए।" मैं कहता हू, "क्या कविता बनाकर दे दू ? क्या वह क्रांतिकारी कार्यक्रम कहलायेगा ?" यदि विद्यार्थी मन मे ठाने तो वे बहुत-कुछ कर सकते है। भारत की गरीब जनता जली हुई जमीन के समान तप्त हो गई है। यह शान्ति की भांति ही मेहनत की राह भी देख रही है। लोग मुझसे कहते है, "जनता क्रांति के लिए तैयार नहीं है।" परन्तु मेरा अनुभव भिन्न है। मैंने

एक कार्यकर्ता को किसी गाव मे भेजा । वहा सभा बुलाई गई। प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि हमे अपने गाव मे ही कपडा तैयार करना है, इसलिए कताई सिखाने और कपडा बुनवाने का प्रबन्ध कर दिया जाय। लोग प्रस्ताव करके बैठे नही रहे। सबके दस्तखत लेकर वह प्रस्ताव मेरे पास भेजा गया। जनता के पास आप जाइये, वह आपकी राह देख रही है।

मैं अपनी सारी शक्ति और भावना को बटोरकर आपसे कहना चाहता हू कि यदि स्वराज सचमुच आ गया है तो जिस प्रकार सूर्योदय के समय सारे पक्षी एकत्र हो जाते है उसी प्रकार स्वराज के सूर्योदय के बाद भी चारो तरफ से कार्यकर्ता एकत्र होने लगेगे। लोग आपकी बात मानने लगेगे और तब क्राति आसान हो जायगी। आज क्राति नही हुई है। क्राति करना तो अभी बाकी है।

: ८ :

सत्ता और सेवा

संस्कृत मे 'सत्ता' के अर्थवाला अच्छा-सा शब्द नही है। कृत्रिम शब्द है, परन्तु सिद्ध शब्द नही है। वैसे सत्ता शब्द भी है तो संस्कृत का ही, परन्तु संस्कृत मे उसका अर्थ केवल अस्तित्व है। अस्तित्व तो जिसका है उसीमे होता है। मेरा अस्तित्व मुझमे और संसार का अस्तित्व संसार मे। एक की दूसरे पर सत्ता हो, यह एक शोध ही है।

यह सत्ता आई कहा से ? इसका अधिष्ठान कहा है ? मा की सत्ता बच्चे पर होती है, क्योकि बच्चा असमर्थ होता है, अनन्यगतिक होता है। परन्तु बच्चे की भी मा पर सत्ता होती है, क्योकि ऐसी सत्ता को बरदाश्त करना मा को अच्छा लगता है। मा असमर्थ नही है।

मा की बच्चे पर सत्ता होती है, वह लड़के को अच्छी लगती है। बल-वान की दुर्बल पर सत्ता रहे, तब भी वह उसे अच्छी लगती हो सो नहीं। वह लाचारी की बात होती है। लाचारी की सत्ता और अच्छी लगनेवाली सत्ता, बिलकुल अलग-अलग चीजे है। उनको प्रकट करनेवाले अलग-अलग शब्दो की जरूरत है।

वैसा शब्द आज हमारे पास नही है। इसलिए एक को हम बल की सत्ता कहे और दूसरी को सेवा की सत्ता कहे। सेवा की सत्ता घर-घर चलती है, परन्तु समाज मे तो आज तक बल की सत्ता ही चलती रही है। लोगो ने उसे देवत्व प्रदान कर दिया है और शक्ति के नाम से उसकी पूजा भी की जाती है। वह थोड़ी-बहुत सेवा भी करती है, परन्तु शक्ति के नाम से विनाश करती है।

परन्तु अभीतक कोई सेवा की देवी का निर्माण नहीं कर सका। सब

के बाहर, समाज मे सेवा हुई ही न हो, सो बात नही। परन्तु देवी के समान उसे प्रतिष्ठा प्राप्त नही हुई। कारण स्पष्ट ही है। सेवा यदि स्वय देवी बन जायगी तो उसकी सेवा कौन करेगा ?

सही बात तो यह है कि विद्या, लक्ष्मी और शक्ति देवी बन बैठी है। ये तो सेविका बनने-योग्य है और सच्ची देवी तो सेवा ही है। विद्या, शक्ति और लक्ष्मी तीनो को सेवा की सेवा मे अपने-आपको अर्पण कर देना चाहिए। सेवा की दासी बनकर रहने ही मे उनका देवत्व है। वह दासीपन यदि उन्होने छोड दिया तो वे देवी न रहकर राक्षसिया बन जायगी। आज उनका यही रूप है।

आज लक्ष्मी कमल पर बैठी है, सरस्वती सितार बजाती है, पुस्तक पढती रहती है या मोर से खेलती रहती हे और शक्ति शस्त्र धारण करके दुर्बलो का बलिदान लेती है। ऐसी देवियो की आज ससार मे पूजा होती है और समर्थ रामदास की भाषा मे कहे तो असली देवी को चोर उडाकर ले गये हैं।

विद्या, शक्ति, लक्ष्मी काफी नही थी। इसलिए अब लोगो ने व्यवस्था देवी और सगठन-देवी इस प्रकार नई देवियो को ही कही से ढूढ निकाला है। आश्रमो से लेकर सेनाओ तक सर्वत्र अनुशासन का बोलबाला हो रहा है। कवायत मे अनुशासन चाहिए। शिक्षा मे अनुशासन चाहिए। भक्ति मे भी अनुशासन चाहिए। मतलब यह कि मुख्य देवी के खो जाने से माया-देवियो का जोर बढ गया है। सूर्य के डूब जाने पर नक्षत्रो को नाचना ही चाहिए।

अब तो ये देविया निजावलम्बी बन गई है। 'अपने लिए ही आप' इसे कहते हैं निजावलम्बन। कजूस कहता है 'पैसे के लिए पैसा', खर्च के लिए नही, और सेवा के लिए तो कदापि नही। साहित्यिक कहता है,'साहित्य के लिए साहित्य', जीवन के लिए नही। कलाकार कहता है, 'कला के लिए कला'। वह नही जानता कि वह काल के लिए होती है। काल उसे खा जाता

है। सेवा के लिए बरती जाती तो उसका सदुपयोग होता।

सत्तावादी कहते हैं सत्ता शासनकर्त्री देवी है। 'वह उसीके लिए' है। सत्ता की प्राप्ति के लिए सेवा हो तो चल सकता है। सत्ता को कायम रखने के लिए भी सेवा की जा सकती है। परन्तु सत्ता 'स्वय-भू' है।

सारे साम्राज्यवादी इस विषय में एकमत दिखाई देते हैं।

: ९ :

गो-सेवा की दृष्टि

जेल मे अध्ययन करने के लिए काफी समय मिला है। वहापर बहुत-से विषयो का अध्ययन होता रहता था। वहा भारतीय समस्याओ के प्रत्येक पहलू पर विचार होता था। उसमे गो-सेवा के विषय मे पठन-पाठन और विचार-विनिमय होना भी स्वाभाविक है। इस सिलसिले मे एक जगह यह पढने मे आया कि भारत मे प्रति व्यक्ति दूध की खपत सात औंस तक थी। लेकिन तीन-भार वर्ष के युद्ध के बाद वह घटकर पाच औस तक रह गई। इस पुस्तक मे भारत के प्रत्येक प्रात की फी आदमी खपत की औसत भी दी गई थी। मध्यप्रदेश के एक भाग मे यह औसत फी आदमी एक औस अर्थात ढाई तोले बताई गई थी। हम लोग इसी मध्य प्रदेश मे रहते है, गावो की सेवा करते है और हमारा दावा है कि हमे यहा के गावो के बारे मे जानकारी है। फिर भी यह एक औसवाली बात पढकर मुझे विश्वास नही हुआ। अधिक जाच-पडताल करने पर यह ज्ञात हुआ कि यह आकडा सही था और सरकारी रिपोर्ट पर से ही लिया गया था। जेल से छूटने के बाद विचार किया कि हमारे आस-पास की हालत क्या है, यह तो देखे। हमने मुरगाव के आकड़े एकत्र किये। वहा के आकडे एकत्र करना सरल और आवश्यक भी था, क्योकि इस गाव मे हम काम करते थे। ये आकडे जाडे के दिनो के थे। इन दिनो मे दूध अधिक होता है। गरमी के दिनो मे इसका आधा भी दूध नही रह जाता। औसत तो साल-भर की होती है। जाडे मे उस गाव मे दूध-उत्पादन की औसत फी आदमी चार औस थी। इस मौसम मे यदि दूध का उत्पादन फी आदमी चार औस है, तो गरमी के दिनो मे तीन औस मानने मे कोई हर्ज नही। फिर भी सरकार की इस एक औस की

औसत मे यह अधिक ही पडती है। मैं अपने मन मे सोचने लगा कि यही गाव कैसे भाग्यवान निकला, जहा के निवासियो को सरकार की एक औंस की औसत से दो औंस दूध अधिक मिल रहा है। सोचने पर ध्यान मे आया कि इस गाव के पास नदी है। इसलिए यहा चारे-पानी की सुविधा है। इस कारण इस गाव की हालत इतनी अच्छी है कि यहा के लोगो को औसत तीन औंस दूध मिल जाता है। अब आप विचार करे कि जिस देश मे दूध का हिसाब औंसो मे किया जाता है, उसकी हालत क्या होगी। लडाई के दिनो मे इग्लेड मे भी खाद्य पदार्थों की कमी महसूस की गई थी। वहा के खाद्य मत्री ने निरुपाय होकर जनता से विनय की कि हम अधिक अन्न प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु लडाई के दिन है, इसलिए पहले के समान अन्न देना कठिन है और इसलिए कम-से-कम मे चलाना चाहिए। अभी तक हम फी आदमी तीन पौंड दूध देते थे, परन्तु अब अढाई पौंड से ही काम चलाना होगा। इग्लैंड मे तो लडाई के दिनो मे प्रति व्यक्ति अढाई पौंड दूध मे काम चलाना पडा था, लेकिन भारत का तो सदा पाच औंस दूध से ही पेट भरता है। यह स्थिति उस देश की है, जहा लोग गाय को माता कहते है।

इसपर से किसीकी भी समझ मे यह बात आ जायगी कि हमारे लिए गो-सेवा का महत्व कितना अधिक है। मेरे जैसे खादी-निष्ठ भी विशेष परिस्थिति मे इस प्रकार की समाज-रचना की कल्पना कर सकते हैं, जिसमे सारे किसानो को दूसरे कामो मे लगाकर और मिलो का राष्ट्रीयकरण करके देश अपनी कपडे की जरूरत को पूरी कर ले। परन्तु हम यह तो कल्पना भी नहीं कर सकते कि दूध के बगैर हम कभी काम चला सकेंगे। इसलिए कहा जा सकता है कि भारत मे दूध का सवाल खादी से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

दूध का प्रश्न कितना महत्वपूर्ण है, यह समझ लेने के बाद एक और बात समझ लेना जरूरी है। वह है गो-सेवा की दृष्टि। शुरू मे दृष्टि को ठीक तरह से समझ लेने पर बात व्यवस्थित होगी, नहीं तो सारा काम अव्यव-

स्थित ही बना रहेगा। अव्यवस्थित काम मे गति अधिक हो तब भी खतरा होता है। दृष्टि को ठीक तरह से समझ लेने पर प्रत्यक्ष काम मे जो कठिनाइया उपस्थित होगी, उनपर विशेषज्ञ लोग विचार करेंगे और वे जो मार्ग सुझायेंगे उन्हे गो-सेवा-सघ जैसी सस्थाए कार्यान्वित करने का प्रयत्न करेगी।

गो-सेवा के काम मे दो दृष्टिया हो सकती है। एक तो वह जो हिन्दुओ के मस्तिष्क और खून मे है, अर्थात् गाय के प्रति पूज्य-बुद्धि। परतु यह पूज्य-बुद्धि देश को कहातक ले गई है, वह हमने देख ही लिया है। गाय की जितनी उपेक्षा और करुणा-जनक स्थिति इस देश मे है ऐसी शायद ही किसी दूसरे देश मे हो। यह सब पूज्य-बुद्धि के अभाव मे हो रहा है, यह हम नही कह सकते। फिर ऐसा क्यो हो रहा है ? इसका कारण क्या है ? कारण यही है कि वह पूज्य-बुद्धि शास्त्रीय नही है। शास्त्ररहित श्रद्धा से काम नही होता। भगवान् ने हमे गीता मे बताया है कि केवल श्रद्धा होना बडी बात नही है। किसी-न-किसी प्रकार की श्रद्धा तो हर आदमी मे होती ही है। परतु केवल सात्विक और शास्त्रीय श्रद्धा ही तारक होती है। ज्ञान-रहित अर्थात् अशास्त्रीय श्रद्धा से प्रगति नही हो सकती। हमे बचपन मे सिखाया गया था कि एक अस्पृश्य को छूने से जो अपवित्रता आ जाती है, वह गाय को छू लेने से दूर हो जाती है। जो जड बुद्धि एक मनुष्य को अपवित्र मानने को कहती है, वही एक पशु को मनुष्य से भी पवित्र मानने की बात कहती है। इस युग मे यह बात मानने-योग्य नही कि गाय मे सभी देवताओ का निवास है और दूसरे प्राणियो मे अभाव है। इस प्रकार की अतिशयतापूर्ण मूर्तिपूजा को मूढता ही कहना होगा।

दूसरी दृष्टि वैज्ञानिक पद्धति से काम करने की है। हमारी गो-सेवा की परख आर्थिक कसौटी पर की जानी चाहिए। जो बात इस कसौटी पर सही साबित नही होगी, वह ससार मे नही टिक सकेगी। इसलिए यदि हमारी गो-सेवा आर्थिक कसौटी पर नही टिक सकती है तो उससे चिपटकर बैठे रहना उचित नही। उसे छोड देना ही ठीक होगा। गाय मनुष्य-समाज के लिए उपयोगी है और आर्थिक दृष्टि मे लाभदायक है, यह हम सिद्ध करे

तभी हमारी गो-सेवा टिक सकती है। यही वैज्ञानिक दृष्टि है।

इन दो दृष्टियों में सदा झगड़ा होता रहा है। झगड़े का कारण यह है कि एक तरफ मूढ़ता है और दूसरी तरफ केवल आर्थिक दृष्टि है। केवल आर्थिक दृष्टि रखेंगे तो उसका अर्थ यह होगा कि जबतक गाय दूध दे तबतक उसका पालन किया जाय और ज्योंही वह दूध देना बन्द कर दे उसे काटकर खा लिया जाय। आर्थिक दृष्टि से यही लाभदायी है, यह सिद्ध होगा। चमड़े की दृष्टि से भी कत्ल की गई गाय का चमड़ा अधिक उपयोगी होगा। गाय की उपयुक्तता समाप्त होते ही उसका जीवन भी समाप्त हो जाना चाहिए। यह केवल आर्थिक दृष्टि का परिणाम है। तब यदि उसका जीवन अपने-आप समाप्त न होता हो तो हमें उसे समाप्त कर देना चाहिए। पश्चिमवाले लोग यही करते हैं। जबतक गाय दूध देती है तबतक उसका पालन वे प्रेमपूर्वक करते हैं। उसे खिलाते हैं और दया-दृष्टि से भी काम लेते हैं और ज्योंही वह दूध देना बन्द कर देती है, उसे मार डालते हैं। इसमें भी वे कह सकते हैं कि उनकी दृष्टि दया की ही है।

ऐसी दशा में हम क्या करें? हमारे पास वैज्ञानिक दृष्टि के अलावा भी एक और दृष्टि है। उसे ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए। वह है हमारे भारतीय समाजवाद की दृष्टि। गाय को हमने अपने परिवार में स्थान दे दिया है, किन्तु उसे यह स्थान देने से पहले उसकी उपयुक्तता पर भी विचार कर लिया गया है। समाजवाद सारे मनुष्य-समाज का ध्यान रखता है। समाजवाद कहता है कि हर मनुष्य को उसके लायक काम दीजिये, उससे पूरा काम लीजिये, और उसे पूरा रक्षण दीजिये। भारतीय समाजवाद कहता है कि मनुष्य-समाज के साथ-साथ गाय को भी अपने कुटुम्ब में स्थान दीजिये, उससे पूरा-पूरा काम लीजिये और उसे पूरा-पूरा रक्षण भी दीजिये। हम जिससे पूरा-पूरा काम लेकर जिसे पूरा संरक्षण दे सकते हैं, भारत में ऐसा केवल एक ही जानवर है। वह है गाय। इसलिए भारतीय समाजवाद ने मनुष्य के साथ गाय को भी समाज का एक अंग मानने का निर्णय किया। परन्तु यह करके उसने एक बड़ी भारी जिम्मेवारी भी अपने सिर पर ले ली

है । वह जिम्मेवारी क्या है, इसका भी हमे विचार करना चाहिए ।

एक सज्जन कह रहे थे कि यदि हम गाय और बैलो का सरक्षण नही करेंगे तो हमारे देश मे ट्रैक्टर आवेगे और यह अच्छा नही होगा। उनका यह कथन बिलकुल सही है। परतु मैं पूछता हू कि हम ट्रैक्टर का विरोध क्यो करते है ? क्या इसलिए कि हमारे यहा जमीन के छोटे-छोटे टुकडे है, इसलिए यहा ट्रैक्टर नही चल सकेंगे ? यदि यही बात है तो क्या हमारे अन्दर इतनी भी बुद्धि और पुरुषार्थ नही है कि हम इन छोटे-छोटे टुकडो को एकत्र कर सके। यदि सब टुकडो को नष्ट कर सारी जमीन को एक करना इष्ट हो तो उसका रास्ता भी मिल सकेगा। अगरेजी मे कहावत है न—"जहा चाह वहां राह"। तो, इस बारे मे ऐसी कोई बाधा नही है, जिसे हम दूर नही कर सकते। गावो के लोग यदि अशिक्षित है तो उन्हे पढा-लिखा बनाया जा सकेगा। यदि इस चीज को वे जल्दी नही ग्रहण कर सके तो कुछ समय के बाद ग्रहण कर लेंगे। जमीन के छोटे-छोटे टुकडे है, इस-लिए ट्रैक्टर नही चलाये जा सकते और ट्रैक्टर नही चल सकते, इसलिए बैल चाहिए, और यदि गायो की रक्षा नही की गई तो बैल नही मिल सकेंगे, इसलिए गो-रक्षा कीजिये, यह दलील निस्सार है। यह विचार के सामने नही टिक सकती। हमारी दलील इससे उलटी होनी चाहिए। हमारी दलील यह होनी चाहिए—भारतीय समाज ने गाय को अपने कुटुम्ब का एक अग मान लिया है और उसका जबतक हम पूरा-पूरा उपयोग नही करेंगे तबतक हम उसको बचा नही सकते। यदि ट्रैक्टर लाते है तो बैलो को पूरा काम नही दे सकते। इसलिए गो-रक्षा जरूरी है। यह है सही युक्तिवाद ।

हमारे देश मे जमीन छोटे-छोटे टुकडो मे बटी हुई है। इसलिए ट्रैक्टर चल नही सकते, यह दलील कमजोरी की है। इससे तो शायद कुछ दिनो के लिए ट्रैक्टरो का लाना टल जायगा। किन्तु दुर्बलता दूर होते ही—और उसे तो दूर करना ही होगा—ट्रैक्टर आ जायगे। मै तो कहता हू कि गावो की जमीनो की इन मेडो को तोडकर उनकी काश्त बैलो की मदद से ही की

जानी चाहिए। न तो ट्रैक्टरो के भय से जमीनो की मेडे कायम रखनी चाहिए और न उसके लालच से उन्हे तोडना है। मैं कहता हू कि गाव के हित की दृष्टि से ही गाव की खेती एक की जानी चाहिए। आज हमारे यहा हर खेत मे एक-एक आदमी जागता है। उसे हमारे यहा जागल्या (रखवाली) कहते है। मैने एक किसान से पूछा कि तू क्यो जागता है? उसने कहा, "इसलिए कि पडोसी के बैल मेरा खेत न चर जाय।" इस प्रकार सारे गाव के लोग चार महीने जागते रहते हैं। परतु यदि सारे गाव की जमीन एक हो जाय तो यह सारी झंझट दूर हो सकती है। आज एक बैलजोडी से बीस एकड जमीन की काश्त हो सकती है। परतु बहुत-से किसानो के पास तो केवल चार-पाच एकड़ जमीन ही है। इसलिए उनके पास तो एक बैल के लिए भी पूरा काम नही होता। अगर वे आधा बैल रख सकते होते तो उनका काम तो उतने मे ही चल जाता। और जिनके पास केवल ढाई एकड जमीन होगी, उनकी मुसीबत तो कायम ही रहेगी। परतु यदि गाव की सारी जमीने एक कर ली जाय तो ये सारी कठिनाइया दूर हो जायगी।

इसलिए गो-सेवा के सबध मे ट्रैक्टरो के भय से नही, भारतीय समाज-वाद की दृष्टि से विचार होना चाहिए। अगर यह लगता है कि जिस समाज-वाद ने गाय को कुटुम्ब मे स्थान दिया, उसने पाप किया, तो बैलो को छोडकर ट्रैक्टर ही लाना चाहिए और गाय दूध देना बन्द कर दे तो उसे खा जाना चाहिए। गो की वृद्धि के लिए जितने साडो की जरूरत हो उतनो को छोडकर शेष सब बछडो को भी मार डालना चाहिए। अगर रूढि के कारण कोई गाय न खाता हो, तो वह भ्रम समझा जाय। और यदि इस अनादि काल से चली आई रूढि को हिन्दू लोग न छोड सकें तो गाय दूसरो के हवाले कर दी जाय। वे उसे खा जायगे। पाप उनको लगेगा और पुण्य-गुण हिन्दुओ के पास ही रह जायगा। यही आज हो भी रहा है। हम स्वय अपनी गायें कसाइयो को देते है। वे यदि गायो को काटते है तो हमारी शुद्ध-बुद्धि कहती है कि उस पाप का हिस्सा हमे नही होता। मैने एक आदमी से

पूछा कि तुमने अपनी गाय कसाई को बेचकर क्या पाप नही किया ? वह कहने लगा, "पाप कैसा ?" मैने कहा, "तूने जिस गाय को बेचा है, उसे यदि वह कतल करेगा तो उसका पाप तुझे नही लगेगा ?" वह बोला, "मैने गाय मुफ्त मे थोडे ही दी है। मुफ्त मे देता तो जरूर पाप लगता। मैने तो उसे बेचा है। बेची हुई वस्तु का क्या होता है, यह देखने की जिम्मेदारी बेचनेवाले पर नही होती।" इस तर्क के कारण चित्त पर आघात भी नही होता।

खेतो की चकबन्दी न करने का कारण क्या है, इसपर जरा विचार करे। उसमे केवल लाचारी है या वह अनुचित है ? यदि असली कारण लाचारी है, तब तो वह थोडे दिनो की ही है। उस परिस्थिति के बदलते ही सारी जमीने एक हुए बिना नही रहेगी। यदि एक करना उचित न हो तो उसका कारण बताया जाना चाहिए। परतु कारण कोई बता नही सकता, क्योकि कोई कारण है ही नही। इसलिए हमे मान लेना चाहिए कि जमीने एक होने ही वाली है। कम-से-कम मुझ जैसे लोग तो कहते ही रहेगे कि जमीनो को एक करो। मै तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे ग्रामीण समाजवाद का माननेवाला हू और उस दिशा मे प्रयत्न भी कर रहा हू। पवनार के बुनकर अलग-अलग बुनते और अलग-अलग मजदूरी पाते थे। मैने उनसे कहा कि सब एकसाथ बुनिये और मजदूरी भी समान रूप से बाट लीजिये। अब वे ऐसा ही करते है। खेती मे भी मुझे यही करना है।

इस भारतीय समाजवाद का नये सिरे से विचार करना है तो कीजिये। यदि ऐसा किया तो सब जानवरो को समान मानकर गाय को भी खाने की तैयारी करनी चाहिए। परतु यदि उपयुक्त समाज-व्यवस्था को मानना हो तो मानना होगा कि गाय को भी कुटुम्ब मे शामिल किया गया है और तब यह समझ लेना होगा कि हमने एक निराले ही प्रकार की समाज-रचना करने की जिम्मेदारी अपने पर ली है। बैलो को खाने का निश्चय करेगे तभी पश्चिम के समान अपने समाज की रचना आप कर सकेगे। अगर बैलो को खाना नही है तो निश्चित है कि बैलो से ही खेती करवानी होगी

और सारे समाज की रचना उसीके आधार पर होगी। अब कौन-सी समाज-रचना को अपनाना है, इसका विचार कर लीजिये। मैं मानता हूँ कि यह बात आसान नहीं है। मैंने तो सिर्फ इतनी-सी बात आपके सामने रखी है कि हमें गो-सेवा के प्रश्न पर किस दृष्टि से विचार करना चाहिए। यह सामान्य दया का प्रश्न नहीं, एक व्यापक प्रश्न है।

गाय के दूध देना बन्द करने पर भी बुडापे में उसका पालन करने की जिम्मेदारी जो अपने सिर पर ले लेते हैं, वे एक बहुत बडी जिम्मेदारी अपने पर लेते हैं। यह एक विशाल आदर्शवाद है, किन्तु वास्तविकता से दूर नहीं है। फिर भी है आदर्शवाद ही। इस आदर्श को चलाना है तो आज के जैसी ढिलाई से काम नहीं चल सकता। हमें केवल गाय के दूध के सेवन का निश्चय करना होगा। मैं तो कहूँगा कि खादी को छोडकर मिल का कपडा पहनना उतना बुरा नहीं, जितना गाय की दूध की उपेक्षा करना बुरा है। हाँ, हम पशु-मात्र का दूध छोड रहे हों, तो बात दूसरी है। वह आगे की बात है। उसके लिए यह समय उपयुक्त नहीं है। आज तो हमें दूध पीना ही है और अगर दूध पीना ही है तो वह हमें ऐसे प्राणी का पीना चाहिए, जिसका हम पूरा उपयोग और रक्षण कर सकें।

समाज-सेवकों से एक बात और कहनी है। यदि किसी काम में हमें प्रगति करनी है अथवा नई शोध करनी है तो वह काम हमें खुद करना चाहिए। गो-सेवा का काम यदि हमें करना है तो उसका दूध निकालना, मल-मूत्र साफ करना, उसे खिलाना इत्यादि सब हमें स्वयं करना चाहिए। जबतक कोई काम हम स्वयं नहीं करते तबतक हमें उसके विषय में नई-नई बातें नहीं सूझ सकतीं। यह मैं अपने खादी काम के अनुभव के आधार पर कह रहा हूँ। जब मैं खादी का काम खुद करता हूँ तभी मुझे उसमें सुधार सूझता है। यही बात गो-सेवा की भी है।

परन्तु जब शरीर-श्रम का यह काम करने के लिए मैं आग्रह करता हूँ तो इसमें मुझे एक और भी लालच है। वह यह कि भारत में शान्ति हो।

देश मे क्रान्ति तभी होगी जब देश के पढे-लिखे शहरी लोग गाव के लोगो के साथ एकरूप होगे। कहते है कि जर्मनी के सेनापति रोमेल से मिलने के लिए एक पत्रकार आया। बहुत तलाश करने पर भी वह नही मिला और मिला आखिर एक टैंक की मरम्मत करते हुए। भारत मे क्रान्ति तभी होगी जब भारत के नेता गाय दुहते हुए, हल चलाते हुए या बढईगिरी करते हुए पाये जायगे। कृष्ण की स्तुति आज पाच हजार वर्षों के बाद भी लोग करते है। कृष्ण की क्या विशेषता थी ? यही कि पूर्ण ज्ञानी होने पर भी वह गोपालो के साथ गोपाल बनकर काम करता था। जबतक हमारे पढे-लिखे लोग अपढ लोगो से अलग रहेगे, तबतक हम देश मे क्रान्ति की आशा नही कर सकते। अगरेजो ने सबसे अधिक भारत की हानि यही की कि पढे-लिखे लोगो को अपढ लोगो से अलग कर दिया। अगरेजी की शिक्षा के कारण इन दो वर्गों के बीच मानो एक दीवार खडी हो गई है। इसीलिए मै युवको से कहता हू कि यदि आप क्रान्ति करना चाहते है तो आपको स्वय मजदूर बन जाना चाहिए।

एक बात और है—'पूर्णमद पूर्णमिद' अर्थात् वह भी पूर्ण है और यह भी पूर्ण है—यह है आदर्श रचना का सूत्र। जो काम करना हो उसे पूर्ण दृष्टि से कीजिये। खादी पहननेवाले गाय के दूध की परवा नही करते और गो-सेवक खादी नही पहनते तथा अन्य ग्रामोद्योगो की चीजो को तो दोनो नही बरतते। यदि पूछा जाय कि ऐसा क्यो होता है, तो कहते है कि वे महगे पडते हे। गाय के दूधवाले को ग्रामोद्योग की खली महगी पडती है और ग्रामोद्योगवाले को गाय का दूध महगा पडता है तथा खादी दोनो को महगी पडती है। मतलब यह कि हम एक-दूसरे के मित्र एक-दूसरे को महगे पडते है। इसलिए शायद अगरेजी मे 'डीयर फ्रेंड' कहते होगे परतु जिन्हे मित्र महगे पडते है, उनके लिए दुश्मन सस्ते हो जाते है। इस प्रकार काम नही चल सकता। यद्यपि एक आदमी सब काम नही कर सकता, हरेक अपने-अपने हिस्से का ही काम करेगा, फिर भी समाज-सेवको को जहा भी एक दूसरे के उद्योगो से काम पडता है उन्हे आपस मे सहयोगपूर्वक ही रहना

चाहिए। वे काम तो अपने क्षेत्र का ही करें, परन्तु वृत्ति समग्र रक्खें। ऐसा करेंगे तभी सब क्षेत्र जिंदा रहेंगे, नहीं तो अलग-अलग रहकर ग्रामोद्योग, खादी या गो-सेवा एक भी काम जिंदा नहीं रह सकेगा। मनुष्य जिंदा कैसे रहता है ? जब मन और प्राण एक दूसरे का साथ देते हैं। यही बात हमारे हर काम को लागू होती है।

: १० :

पैसा नहीं, पैदावार

कहा जाता है कि भारत कृपि-प्रधान देश है। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि भारत मे जमीन बहुत है। हा, उसका अर्थ यह हो सकता है कि भारत के गावो की और लोगो के मनो की रचना खेती के अनुकूल है। एक अर्थ यह भी हो सकता है कि आज भारत के पास सिवा खेती के और कोई धधा ही नही रह गया है। परतु इस कृषि-प्रधान देश मे खेती की जमीन प्रति व्यक्ति केवल पौन एकड ही है।

जिसके पास जमीन की कमी है, उसे एक और अर्थ मे भी खेती-प्रधान कहा जा सकता है। वह यह कि उसे खेती की तरफ विशेप ध्यान देना चाहिए। खेती शास्त्रीय पद्धति से करनी चाहिए। उसमे उसे अपनी सारी बुद्धि लगानी चाहिए। नही तो जीवन ठीक नही बीतेगा। इस अर्थ मे आज भारत कृषि-प्रधान हो गया है।

वैसे हर देश कृषि-प्रधान ही होना चाहिए, यानी दूसरे धधो की अपेक्षा खेती की तरफ उसे विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योकि खेती से मनुष्य को अन्न मिलता है और यही मनुष्य की मुख्य आवश्यकता है।

उपनिषद् जीवन की ओर गहराई से देखने के लिए प्रसिद्ध है। उनकी तो आज्ञा है कि अन्न खूब पैदा करना चाहिए। मनुष्य को इसे व्रत समझना चाहिए। 'अन्नं बहु कुर्वीत, तत् व्रतम्।' युद्ध के दिनो मे सरकार ने यही भाषा शुरू कर दी थी। परन्तु अन्न तो वह बहुत नही पैदा कर सकी। उसके बदले उसने पैसा ही बहुत निकाला। इस कारण तीस लाख मनष्य अन्न के अभाव मे मर गये।

आखिर अगरेजो ने यह दिवालिया दुकान हमारे हवाले कर दी। आज

सारे प्रान्तो मे लोकप्रिय सरकारें काम कर रही है। ये सारी दुकाने दिवा-लिया है, यह जानकर ही हमने उन्हे स्वीकार किया है। इसलिए बाद मे और कुछ भी करें, पहले तो सबसे बडी जिम्मेदारी यह आ पडी है कि लोगो को भूखो मरने से कैसे बचाया जाय ?

आकडा-विशेषज्ञ कहते है कि आज भारत मे खेती पुसाती नही है। जहा खेती नही पुसाती वहा जीवन भी नही पुसाता, यही कहना होगा ? इस स्थिति का कारण प्रकृति नही हमारा कृत्रिम जीवन है। और पैसा इस कृत्रिम जीवन का चिह्न है। पैसे की प्रतिष्ठा जीवन के लिए मारक बन गई है।

भारत की जनता गावो मे रहती है। गावो मे पैसे की प्रतिष्ठा अगर हट जाय तो भारत की खेती सुधरे बगैर न रहेगी। पैसे के लिए तम्बाकू बोई जाय, जरूरत से अधिक कपास बोई जाय, पैसे की इतनी जरूरत क्यो हो ? इसलिए कि जरूरत की शेष सारी चीजे हमे कीमत देकर खरीदनी पडती है। कपडा खरीदना पडता है, और खली खरीदनी पडती है, इसलिए पैसा चाहिए। और इसीलिए ऊटपटाग चीजे बोई जाती है, इसलिए अनाज की कमी होती है। गावो मे उद्योग-धधे नही है। इसलिए वहा पर्याप्त अनाज पैदा नही हो पाता। यह हुआ इसका अर्थ। नि सदेह खेती मे बहुत सुधार का मौका है। वह यदि सुधर जाय तो स्पष्ट ही उत्पादन बढेगा। परन्तु यह काम बडी मेहनत का है। सुधार करना तो चाहिए, किन्तु उसमे सालो लग सकते है। और फिर भी पूरा नही पडेगा, क्योकि जनसख्या बढती ही जाती है। इसलिए किसान का अर्थ खेती करनेवाला नही, खेती के अलावा खेती से उत्पन्न कच्चे माल से अपनी जरूरत का पक्का माल बना लेनेवाला करना होगा। खादी-ग्रामोद्योग-आदोलन का यही उद्देश्य है। खादी और ग्रामोद्योग के बगैर गरीब लोगो की दुर्दशा दूर नही होगी।

आज सरकार इस विचार मे है कि भारत मे अनाज कितना कम पडता है और इसकी पूर्ति कैसे की जाय ? परन्तु इस प्रकार केवल गणित से हिसाब लगाने से काम नही चलेगा। अनाज तो अगणित पैदा होना चाहिए।

चालू वर्ष की जरूरत को पूरा करके अगले वर्ष के लिए भी कुछ बच जाय, इतना अनाज हर साल पैदा होना चाहिए। हवा अतिरिक्त और पानी अति-रिक्त वैसे ही अनाज भी अतिरिक्त होना चाहिए। परन्तु यह खेती के सुधार पर निर्भर है। अनाज के अलावा अन्य खाद्य पदार्थ भी काफी पैदा होने चाहिए। उसके लिए जमीन की अपेक्षा पानी की जरूरत अधिक होती है। जमीन के अन्दर पानी पर्याप्त है। परन्तु उसे ऊपर लाने की जरूरत है। उसमे सब्जिया, फल, कन्द वगैरा पैदा किये जा सकते है। परन्तु इसमे भी पैसे को नही आना चाहिए। नही तो लोग यही चिन्ता करने लग जायगे कि इन्हे वेचेगे कहा ? ये सारी चीजे ग्रामीणो को स्वय खानी चाहिए। बचा हुआ वेचे। मुख्य ग्राहक हम ही है। यह है स्वराज की दृष्टि। सत तुकाराम ने कहा है कि जो अपने परिश्रम का फल खुद खाता है, वह वदनीय है। अपने बच्चे को ही हम बाजार मे वेचने के लिए खडा कर दे तो उसका क्या मूल्य आयेगा ? और वह क्या हमे वरदाश्त होगा ? गावो मे दूध और घी होता है, परन्तु उसे खाना गाव के लोगो को नही पुसाता। फल, सब्जिया वगैरा भी यदि यहा पैदा होने लगे तो उन्हे खाना नही पुसायेगा। क्यो ? इसके लिए मेरा उत्तर तो यही होगा—"क्योकि ग्रामोद्योग नही है।" मेरी बुद्धि पर एक ही विचार सवार है, इसलिए शायद मुझे यह लग रहा है। परन्तु जबतक दूसरा उत्तर नही सूझता इसीको पकडे रहना होगा।

एक पाठक लिखते है—

'पैसा नहीं, पैदावार' लेख मननपूर्वक पढा। उसमें परिस्थिति का जो विश्लेषण और निदान किया गया है, वह जंचने योग्य है। परन्तु गावों के प्रश्न को उसमें जितना आसान बताया गया है, वास्तव में उतना आसान नहीं है। यह सच है कि अन्न, वस्त्र और घर के बारे में गाव अधिकाश में स्वावलम्बी हो सकेंगे, परन्तु मनुष्य की जरूरतें केवल इतनी ही तो नहीं हैं। पच्चीस वर्ष पहले चाय गावो की जरूरत नहीं मानी जाती थी, परन्तु आज वह नित्य की आवश्यक चीज जैसी बन गई है। अभी तक ग्रामीण जनता के रोगो के उपचार की किसीने चिंता नहीं की, परन्तु अब

तो हमारी सरकार को उसका ध्यान रखना पड़ेगा। फिर तो दवाएं भी गांवों में बाहर से भेजनी पड़ेंगी। कोई चाहे या न भी चाहे, आज की हालत में आवागमन के साधन बढ़ जाने पर जो जरूरतें केवल शहरों तक ही सीमित मानी जाती थीं, वे अब गांवों में भी आवश्यक बन जायंगी। गांव-गांव में शालाएं खोलनी होंगी और शालाएं खुलने पर उनके अंग के रूप में कुछ नई जरूरतें पैदा होंगी। गांवों को शहरों से अलग मानकर गांवों को थोड़े में समझा देने की योजना कागज पर भले ही जम जाय, परन्तु व्यवहार में अधूरी ही साबित होगी। इसलिए ऐसा लगता है कि गांव के लोग भी पैसे के बगैर काम नहीं चला सकेंगे।"

यह एक लम्बे पत्र का सारांश है। इसमें मेरे लेख की मूल बात का ठीक से आकलन नहीं हुआ है। इसलिए उसका अधिक विश्लेषण करना होगा।

१ जरूरतें तो बहुत-सी होती हैं, परन्तु उनमें तर-तम का विवेक करना होगा। कुल मिलाकर सारी जरूरतों को सात वर्गों में बांट सकते हैं—

(१) अन्न, (२) वस्त्र, (३) घर, (४) औजार, (५) ज्ञान के साधन, (६) मनोरंजन और (७) व्यसन। सारे देश का विचार करते हुए मैं इन सातों को मान लेता हूं, परन्तु विवेक को छोड़कर सारी जरूरतों की पूर्ति समान रूप से करने की जिम्मेवारी मुझे सहन नहीं होगी। अन्न के बदले में व्यसन-पूर्ति और औजारों के स्थान पर मैं खिलौनों को नहीं रख सकता।

२. खेलों के भी अनेक प्रकार होते हैं। जेल में राजनैतिक कैदियों को वालीबाल खेलने की सुविधा कर दी गई थी, अर्थात् एक साधारण खेल के लिए रबर जरूरी हो जाएगा, जो भारत में पैदा नहीं होता। खोखो, कबड्डी इत्यादि खेलों में शरीर का तो व्यायाम हो ही जाता है और आनन्द भी आता है। साथ-साथ बुद्धि का भी थोड़ा व्यायाम हो जाता है। यही बात दस्तकारी को भी लागू होती है। सदोष व्यसनों को हटाकर उनके स्थान पर निर्दोष

व्यसन आने चाहिए और उनकी पूर्ति भी जगह-की-जगह पर होनी चाहिए। गाफिल रहने के कारण पच्चीस वर्ष मे चाय घर कर सकती है, किन्तु सावधानी रखने पर वह उसी तरह जा भी सकती है। इसके लिए वैसा शिक्षण देना होगा। शिक्षण देने की हिम्मत तो करे नही और चाय को स्थायी मान ले, यह मानसिक आलस्य का लक्षण है। अगर वह टिका रहनेवाला हो तो जाहिर है कि उसकी बाहर से व्यवस्था करनी होगी।

३ मेरी कल्पना मे ग्राम-जीवन और शहरी जीवन अलग-अलग नही हैं, परन्तु मैं मानता हू कि गाव की अपनी मुख्य जरूरते सारी-की-सारी और दूसरे नम्बर की जरूरतो मे से भी अधिकाश स्वय पूरी करनी चाहिए। बची-खुची दूसरी-तीसरी श्रेणी की जरूरत की चीजे बाहर से भी आये तो कोई हर्ज नही।

४. गावो मे जो कच्चा माल होता है, उसका पक्का माल, जहातक सभव हो, गावो मे ही तैयार होना चाहिए। गावो मे कपास होती है तो कपडा भी वही बनना चाहिए। अम्बाडी होती है तो रस्सी वही बननी चाहिए। चमडा होता है, तो जूते और चडस वही बनने चाहिए। अपनी जरूरत की पूर्ति के बाद जो बचेगा, वह शहरो मे बेच दिया जाय और उस पैसे से जरूरत की अन्य चीजे खरीदी जाय। पैसे के लिए ऐसी फसले नही बोनी चाहिए, जो पोषण के लिए अनावश्यक हो।

५ गावो के मजदूरो को फसल की चीजो के रूप मे ही मजदूरी दी जाय। मजदूरो के घरो मे भी विपुल धान्य हो। पिछले पच्चीस वर्षो मे चीजो की कीमते पाचगुनी बढ गई है। फिर भी हमारे हाली को पहले की ही भाति छ कुडव (डेढ मन) महीने के हिसाब से अनाज दिया जा रहा है। इससे हाली सुरक्षित-से हैं। ऊपर उन्हे जहा बीस रुपये दिये जाते थे, सो साठ रुपये तक पहुच गये है, परन्तु अनाज तो उतना ही मिल रहा है। यह अनाज मजदूरो के लिए बीमे के समान है।

६. पैसा लफगा है। जो आज एक बात कहता है और कल दूसरी, उसे लफगा कहते है। रुपये की कीमत दो पायली से लेकर बीस पायली तक

चढ़ने-उतरने उन पन्द्रह-बीस वर्षों मे मैने देखी है। इसलिए मैं उसे गपला समझता हू। ज्वार मे मिलनेवाला पोषण जबतक न्यूनाधिक नही हो जाता तबतक उसकी कीमत मे कोई फर्क नही हो सकता। इसलिए मै उसे प्रामाणिक कहता हू। पैसा लफगा है। उसके हाथो मे अपना जीवन देने के मानी है सारे जीवन को कलुषित करना। पर आज यही हाल हो गया है। इसलिए गाव मे, आपसी व्यवहार मे, पैसे का कम-से-कम उपयोग होना चाहिए।

७ सरकार जमीन का लगान अनाज या सूत की गुण्डियो मे ले। गावो मे भी अनाज या सूत की गुण्डियो का सिक्का चले। मजदूरी मे अनाज देने के बाद सूत की गुण्डियो को सिक्के के रूप मे मैं अधिक पसन्द करूगा।

८ गावो मे स्वास्थ्य आदर्श हो। स्वास्थ्य-विषयक ज्ञान सबको हो। मनुष्य के मैले का ठीक से उपयोग हो। रोग-उपचार की अपेक्षा रोग-निवारण का ध्यान अधिक रहे। सर्वत्र प्राकृतिक उपचार से काम लिया जाय। गाव-गाव मे स्वयं चिकित्सागृह खुल जाय। यदि औषधियो का उपयोग करना आवश्यक हो तो आस-पास की वनस्पतियो का उपयोग किया जाय।

९ खेती मे सामुदायिकता और सहकारिता का उपयोग किया जाय, परन्तु सहकारिता के नाम पर खेती मे यत्रो को न घुसाया जाय। इस देश मे बैल ही कृषि-देवता रहेगा। इसलिए खेती मे ऐसे किसी भी यत्र का प्रवेश न हो, जो बैल को बेकार करनेवाला हो।

१० गोरक्षा उत्तम प्रकार से हो। गावो मे बच्चो को दूध पूरा मिला जाय। छाछ सबको मिले। इससे गाव के स्वास्थ्य की रक्षा होगी। शहरो को भी दूध-घी देने की शक्ति गावो मे होनी चाहिए। किसान को बैल बाहर से नही खरीदना चाहिए।

११ ऐसा एक भी खेत न हो जिसमे कुआ न हो। किसान को जी-भर सब्जी और फल खाने चाहिए। बचे हुए ही बेचे। बेचना उनका मुख्य लक्ष्य न हो।

१२ शिक्षण के नाम पर रबर, रगीन पेंसिलें इत्यादि चोचले शुरू करके गावो को लूटा न जाय। शिक्षा के सारे उपकरण, जहातक सभव हो, गाव के ही हो, और वे भी विद्यार्थियो के ही वनाये हुए। इसमे उनकी बुद्धि का विकास होगा और जीवन मे रस आयगा। शिक्षा उद्योगमूलक, उद्योगायतन और उद्योगगामी हो। ज्ञान और कर्म के अभेद का अनुभव किया जाय।

१३ गावो के न्याय-दान और सुरक्षा मे किसी वाहर के आदमी का हाथ न हो। विशेप प्रसग पर यदि सरकार से मदद मागी जाय तो उसके मिलने की सुविधा रहे। परन्तु उसे अपवाद-रूप ही समझा जाय। नगर-वासी अपनेको ग्रामीणो के सेवक समझे। नागरिक शिक्षण और नागरिकता ग्राम-निष्ठ होनी चाहिए।

इस सवको मैं धन्य-धारणा कहता हू। इसके विपरीत धन-धारणा है, जो पूजीपतियो ने सारे ससार मे फैला रक्खी है।

: ११ :

ग्राम-सेवा का स्वरूप

प्रश्न : वस्त्र-स्वावलम्बन का प्रचार गांवो मे किस प्रकार किया जाय? इसके साधन क्या हो? लोग फुरसत के समय कातें या कातने की आदत ही बना लें?

उत्तर खेत से अच्छी कपास चुन ले। उसकी तुनाई, कताई और दुबटा करके गाव में ही बुनकर से बुनवा ले, या खुद बुन ले। दुबटाकर लेने के बाद बुनने मे कठिनाई नही होती है। साधन सभी सुलभ हो और यदि सभव हो तो वही के बने हुए हो। फुरसत के समय मे खूब काते और आदत भी डाले।

प्रश्न जो किसान खाते-पीते और सुखी है, उन्हे चरखा महत्वपूर्ण नहीं लगता। उन्हे कताई की ओर किस तरह प्रवृत्त किया जाय?

उत्तर जो लोग खा-पीकर सुखी है, उन्हे यदि यह समझाया जा सके कि उन्हे दूसरो की चिन्ता करनी चाहिए, तो वे कातने लग जायगे।

प्रश्न : जिनके पास बागवानी की जमीन है, उन्हे कातने का अवकाश नही मिलता, वे क्या करें?

उत्तर वे कताई के लिए एक मजदूर रक्खे और उसे पूरी मजदूरी दें। फिर वह सूत बुनवा ले और मजदूर-सहित घर के सब लोग पूरी खादी पहनें।

प्रश्न : गांवो में रास्ते पर गन्दा पानी बहता या फैलता रहता है, उसका क्या करें?

उत्तर : रास्ते ठीक करें, नालियां बनावे, सोख्ता-गड्ढा तैयार करे।[1]

---

1 श्री वालुभाई मेहता ने गाव-सफाई पर एक किताब लिखी है। इस विषय की अधिक जानकारी उसमें पढ़ें।

प्रश्न हरिजनो की सेवा करने का यत्न करने पर भी यदि वे सेवा लेना न चाहे तब क्या किया जाय ?

उत्तर यदि किसीको सेवा की जरूरत न हो तो वह उसपर लादी न जाय। जिसे जिस सेवा की जरूरत हो, वही दी जाय। हरिजनो की सच्ची सेवा तो स्वय हरिजन बनने पर हो सकती है। यह हमारे हाथ की बात है।

प्रश्न . शराब के व्यसनी यदि शराब छोड़ते है तो बीमार हो जाते है। तब क्या किया जाय ?

उत्तर प्राकृतिक उपचार से उन्हे अच्छा करे। इस प्रकार अच्छा हो जाने पर एक तो फिर से शराब पीने की इच्छा ही नही होगी और यदि हो तो समझना चाहिए कि असली रोग यह इच्छा ही है।

प्रश्न चोरी से शराब बनानेवालो को वैसा न करने के लिए समझाने पर भी यदि न मानें तब क्या इसकी शिकायत पुलिस से करनी चाहिए ?

उत्तर सेवक को अपना काम करना चाहिए और पुलिस को अपना। सेवक को सत्याग्रह की शक्ति मालूम होनी चाहिए।

प्रश्न गावो के होटलवालो और बीडीवालो का सगठन बनाकर उनके लिए तम्बाकू आदि उपलब्ध करने तथा सिले हुए तैयार कपड़े बनाकर बेचनेवाले दर्जियो के लिए मिल का कपडा मिलने की सुविधा ग्राम-सेवक को करनी चाहिए या नहीं ?

उत्तर यो ग्राम-सेवक के क्षेत्र मे सब प्रकार की सेवाए आ जाती है, परन्तु ग्राम-सेवक का काम यह नही है कि ग्रामवालो का भला-बुरा सब प्रकार का जीवन चलाने मे मदद करे। वह अपने लिए कुछ मर्यादाए बना ले और इन मर्यादाओ मे रहते हुए जो सेवा हो सके, उतनी से सन्तोष माने। रोगियो की सेवा के बारे मे जिस प्रकार हम दवा-दारू के झगडे मे न पडकर प्राकृतिक उपचार की मर्यादा मे काम करते है, उसी प्रकार इसमे भी करे।

प्रश्न : ग्राम-सेवक स्वयं कितने घण्टे शरीर-श्रम और कितने घण्टे सेवा करे ?

उत्तर : सेवक आठ घंटे विश्रान्ति और चार घंटे देहकृत्य करे। शेष बारह घंटों में चार घंटे उत्पादक शरीर-श्रम, चार घंटे ग्राम-सेवा और चार घंटे स्वाध्याय, प्रार्थना और आत्म-चिंतन इत्यादि।

: १२ :

सोने की खान

श्री अण्णासाहब दास्ताने ने गाव-सफाई और खासतौर पर भगी-काम के बारे मे कुछ प्रश्न पूछे थे। इस विषय मे उनसे चर्चा हो चुकी है। उसका सार यहा देता हू।

१ भगी की जाति को आगे नही बढने देना है। भगी-काम का रूप अब ऐसा होना चाहिए कि उसे करने मे किसीको असुविधा न हो और आज की अवस्था मे भी दूसरो को उसमे हाथ बटाना चाहिए। कोई भी मनुष्य अस्पृश्य न रहे। वैसे कोई भी काम अस्पृश्य नही होना चाहिए। छोटे देहात मे भगी नही है, यह भगवान् की दया समझिये। गाव के सगठनो को यह काम सेवा की भावना से उठा लेना चाहिए।

२ मैले पर मिट्टी डाली जानी चाहिए। उसे खुला रखना महापातक है।

३ मिट्टी के अलावा पत्तिया वगैरा भी उसपर डाल सकें तो अच्छा है। इससे बदबू बिलकुल नही फैलेगी, मक्खिया भी नही होगी, और सोनखाद, गोबरखाद बन जायगा। वह खेती के लिए अधिक लाभदायक है। भारत की जमीन दस हजार वर्ष से जोती जा रही है। उसमे कस कायम रखने के लिए खाद का मिलना बहुत जरूरी है। गावो के लोगो को यह दृष्टि आनी चाहिए। चीन और जापान के लोगो मे यह दृष्टि है। इस कारण जमीन के छोटे-छोटे टुकडो मे भी वे बहुत पैदा करते है।

४. खुले मे शौच जाने की आदत छोड देनी चाहिए। इसके लिए सुविधानुसार पन्द्रह-बीस बैठकोवाली झोपडिया खडी की जाय। उनमे लम्बी चरिया खोदी जाय और इसे ईंटो से बाध दिया जाय। झोपडी की जगह

जरा ऊची रहे तो अच्छा है। झोपडिया ऐसी बनानी चाहिए कि वे बरसात के दिनो मे भी काम दें। वही झोपडिया दूसरे मौसमो मे भी काम मे आ जायगी।

५ झोपडिया बनाने का खर्च गाववाले ही उठायें। उनके लिए वह भारी नही होगा। पुराने अनुमान के अनुसार एक आदमी के मल से वर्ष मे दो रुपये की आय होती है। आज के हिसाब से तो दस रुपये की होगी। इस प्रकार एक हजार की आबादीवाले गाव को वर्ष मे दस हजार रुपये मिलेंगे। इतने बडे गाव के लिए झोपडिया बाधने मे मोटे अनुमान मे चार हजार रुपये से अधिक खर्च नही लगना चाहिए। लाभ का अनुमान और भी कम करके तिहाई मान ले तो भी, निस्सन्देह, दो हजार रुपये साल से कम नही होगा। इसका मतलब हुआ कि झोपडियो की लागत दो वर्ष मे वसूल हो जायगी। ये झोपडिया कम-से-कम दस वर्ष तो काम देंगी ही। जिनके पास बगीचे हैं, वे अपने खर्च से ऐसी झोपडिया गाव के लोगो के लिए बनवा दें। खाद का उपयोग वे अपने बगीचे के लिए करे और मल पर डालने के लिए मिट्टी वे दे। ऐसी खानगी व्यवस्था हो जाय तो भी फिलहाल मै पसन्द करूगा।

६ सरकार को हर गाव मे ग्रामपचायत बनानी चाहिए। गाव का प्रबन्ध पचायत के हाथ मे होना चाहिए। उसमे यह बात भी आ जायगी। पाखानो की झोपडिया बनाने के लिए सरकारी मदद की जरूरत नही होनी चाहिए। विशेष परिस्थिति मे सरकार कर्ज दे सकती है, जिसकी अदायगी दो या तीन किस्तो मे हो सकती है।

७. गाव के आस-पास झोपडिया बनाने के लिए जगह उपलब्ध करने मे कही-कही सरकार को मदद करनी होगी। सच पूछिये तो इस प्रकार के कामो के लिए गाव के लोगो को आवश्यक स्थान दान मे देना चाहिए। समझदार लोग ऐसा करेंगे भी। परन्तु जहा यह हो वहा सरकार को इसमे मदद करनी होगी।

८. इस विषय की जानकारी उपलब्ध कर देने का काम सरकार का

होगा। इसी प्रकार इस जानकारी का हर गाव मे ठीक उपयोग किया जा रहा है या नही, इसका ध्यान भी सरकार को रखना होगा। इसके लिए जो खर्च लगेगा, वह तो लगेगा ही। इसके अलावा इस काम के लिए सरकार पर और कोई भी खर्च नही पडना चाहिए।

९ अहिंसक लोकराज का लक्षण यह है कि सरकार का उपयोग कम-से-कम किया जाय। हर बात मे सरकार पर निर्भर रहे, यह स्वराज की वृत्ति नही है। इसलिए लोकसेवको को गाव-सेवा की योजनाए सरकार-निरपेक्ष बनानी चाहिए। इनमे से जो योजनाए खर्चे की नही, आमदनी की है, उनका भार सरकार पर डालना बिलकुल शोभाजनक नही है। खाद का यदि सही-सही उपयोग किया जाय तो हर गाव मे यह एक सोने की खान सिद्ध हो सकती है। इसकी आय से गाव के अन्य सार्वजनिक काम भी किये जा सकेंगे।

: १३ :

स्त्री-पुरुष-अभेद

इस परिषद[१] का अध्यक्ष बनने के लिए जब मुझे कहा गया तो मैं इस बात को टाल नही सका, क्योंकि महिलाश्रम से मेरा शुरू से संबंध है। किन्तु फिर भी टालने की इच्छा तो थी ही, क्योंकि आजकल मैं मजदूर बन गया हू। शायद इसीलिए मेरी बोलने की शक्ति आजकल कम हो गई है। फिर भी मैं यहा आया हू और तुम सबको देखकर मुझे आनन्द होता है।

जब मैंने यहा आना स्वीकार किया तो मैं सोचने लगा कि स्त्रियो के बारे मे विशेष बात कौन-सी कही जाय। किन्तु मुझे ऐसी कोई बात याद नही आई। इसपर मैं सोचने लगा कि मुझे क्यो कोई बात याद नही आई, इसका कारण आपको जरा समझा दू।

इसका कारण यह है कि स्त्री-पुरुष मे भेद करने की वृत्ति मुझमे नही है। मैं मानता हू कि स्त्रियो के सामाजिक, कौटुम्बिक और राजकीय अधिकार और कर्तव्य वे ही है, जो पुरुषो के है। दोनो का आर्थिक अधिकार समान है और दोनो की नैतिक योग्यता भी एक-सी है। दोनो का शिक्षण एक साथ होना चाहिए और विषय भी समान होने चाहिए। स्त्री-पुरुष का भेद बाह्य है, मूलभूत नहीं। स्त्री और पुरुष दोनो मे एक ही मानव-आत्मा वास करती है। इसलिए बाह्यभेद हो तो भी उनको महत्व देने की आवश्यकता नहीं। बाह्यभेद के कारण दोनो के कार्य-क्षेत्र में कुछ फर्क होना स्वाभाविक है। लेकिन इतने से ही आज हमने दोनो मे जो भेद-भाव कर रखे है, उन्हे ठीक नही कहा जा सकता।

---

[१] महिलाश्रम, वर्धा का वार्षिक समारोह (१९४७)

हिन्दुस्तान के मध्यकालीन इतिहास मे कुछ विचारक ऐसे निकले, जिन्होने स्त्री-पुरुप-भेद को मूलभूत समझा। परन्तु उसका आधार केवल उनकी कवित्व शक्ति थी। साख्यो को सृष्टि का निरीक्षण करते हुए दो तत्व मिले। एक विविध रूपधारी जड, दूसरा एकरस चेतन। एक को उन्होने नाम दिया 'प्रकृति' और दूसरे को 'पुरुप'। दोनो के सयोग से ससार चल रहा है। प्रकृति शव्द स्त्रीलिंग है, और पुरुप पुल्लिग। इसी शाब्दिक लिंग-भेद का उपयोग कर कवियो ने कहा कि स्त्री 'प्रकृति तत्व' का प्रतिनिधित्व करती है और पुरुप 'पुरुष-तत्व' का। कुछ विचारको ने इसे गंभीर स्वरूप दिया और माना कि स्त्री ससारासक्त होती है। उसे मोक्ष का भी अधिकार नही है। मोक्ष का अधिकारी केवल पुरुप ही हो सकता है। स्त्री को मोक्ष पाना है तो उसे दूसरे जन्म मे पुरुष होना होगा। प्रकृति शव्द स्त्रीलिग है और पुरुष पुल्लिग है। इसके सिवाय इन विचारको के विचार की सिद्धि के लिए और कोई आधार नही था। यदि कोई आधार माना जा सकता है तो केवल उनकी विकृत बुद्धि और काव्य-शक्ति। लेकिन साख्यो ने तो प्रकृति को 'प्रधान' भी कहा है, और प्रधान शव्द पुल्लिग है।

वस्तुत स्त्री-पुरुप मे एक ही पुरुप तत्व, जो चेतन है, समान रूप से मौजूद है और दोनो के शरीर उसी प्रकृति तत्व के वने है। ससारासक्ति और ससारवन्धन दोनो मे समान है और मोक्ष का अधिकार भी दोनो का समान है। लेकिन काव्य-शक्ति कहातक अनर्थ कर सकती है, 'प्रकृति' शव्द उसका एक उदाहरण वन गया है।

सस्कृत काव्यो मे मैंने पढा कि दमयन्ती के महल मे वायु का भी प्रवेश नही था। क्यो ? इसलिए कि वायु पुल्लिग है और पर-पुरुप को दयमन्ती के महल मे कैसे स्थान हो सकता है ? दयमन्ती वेचारी कवकी मरकर मुक्त हो चुकी है। किन्तु जव मैंने यह पढा तो यह सोचकर व्याकुल-सा हो गया कि दयमन्ती का क्या हाल हुआ होगा। लेकिन फिर थोडी देर मे निश्चित हो गया, क्योकि मेरे ध्यान मे आया कि वहा वायु नही, तो हवा तो जरूर जा सकती होगी, क्योकि हवा तो स्त्रीलिग है। ऐसी है शव्दो की महिमा !

स्त्री को ममासक्त और पुरुष को मोक्ष-प्रवण और विरक्त माननेवाली विचारधारा से भिन्न एक दूसरी विचारधारा भी है, जो कहती है, "स्त्री पुरुष से श्रेष्ठ है। उसमे दया-भाव सहज ही अधिक होता है। बालकों की शिक्षा और समाज-शासन स्त्री के हाथ मे दिया जाय तो अहिंसक समाज-रचना सुलभता से सिद्ध होगी।" इन सब कार्यों मे स्त्रियां भाग लें, ऐसा तो मैं भी चाहता हू। आजतक ये कार्य सामान्यत पुरुष ही करते आये है, इसलिए स्त्रियो के प्रवेश से उनमे एक तरह की ताजगी आयेगी, ऐसा भी मैं मानता हू, लेकिन जैसाकि नये विचारक मानते है, वैसा मैं नही मानता, क्योंकि दया आदि गुण किसी जाति या किसी लिंग के आश्रित नही है। बाह्य उपाधि के कारण गुणो के प्रकाशन में, उनके प्रकट होने की पद्धति मे, फर्क हो सकता है। लेकिन दोनो के गुणो मे फर्क है, ऐसा मानना विचार और अनुभव दोनो के ही विरुद्ध है।

लेकिन भेद माननेवाले गुणो मे तो भेद मानते ही है, दोनो की ग्रहण-शक्ति मे भी फर्क मानते है। कोई कहते है, स्त्रियो के लिए काव्य अनुकूल है, गणित प्रतिकूल। पुरुष मे पराक्रमशीलता अधिक होती है। उसकी बुद्धि की ग्रहण-शक्ति और स्वभाव के अनुकूल उसके अध्ययन के विषय होने चाहिए। इसी प्रकार स्त्रियो मे सौंदर्य-भावना, करुणा आदि मृदु वृत्तियां अधिक होती है। वैसी ही उनकी ग्रहण-शक्ति और तदनुरूप उनके अध्ययन के विषय होने चाहिए। किन्तु मैं मानता हू कि मूल-स्वभाव और उपाधि-जन्य भेद का सम्यक् विश्लेषण न होने के कारण यह भ्रम पैदा हुआ है।

नई तालीम (वर्धा-शिक्षण-पद्धति) मे लड़के भी रसोई करना सीखते है। इसपर एक भाई ने आपत्ति की। उन्हें इस बात का दुःख हुआ कि लड़कों के शिक्षण का समय बिगाड़कर क्यो हम उन्हे चूल्हे मे झोंकते है? उनकी राय मे लड़कियो को इस काम में लगाना चाहिए। मैंने उन्हे समझाया। लड़को के हाथ यदि रसोई बनाई जाय तो उसे पकाने मे अग्नि इन्कार नही करता। ज्वार की रोटी लिंग-भेद नही जानती, स्त्री-पुरुष दोनो की भूख का समान भाव से निवारण करती है। वैसे ही भूख भी लिंग-भेद नही जानती। तब ऐसा विचार

जाय ? इसमे लोग प्रतिष्ठा का भी सवाल खडा करते है । हमे समझना चाहिए कि प्रतिष्ठा न स्त्री की है, न पुरुष की । प्रतिष्ठा तो उसकी है, जो प्रतिष्ठा-योग्य है । प्रतिष्ठा का कर्म-विशेष से भी सवध नही ।

लडकियो और लडको के साथ-साथ रहने पर भी बहुतो को आपत्ति है । वे कहते है कि यह प्रयोग खतरनाक सावित होगा । लेकिन सावित तो वह होगा, जो हम सावित करेगे । वह तो हमारी शक्ति पर निर्भर है । वैसे देखा जाय तो दो व्यक्तियो के एकत्र रहने मे जैसे गुण है, वैसे कुछ खतरे भी है ही । कुछ लोग मुझसे पूछते है, "क्या आप ब्राह्मण वालक और हरिजन वालक को एक ही छात्रालय मे रखेगे ? क्या सगति के कारण कुछ बिगाड न होगा ?" मै कहता हू, "वह डर तो मुझे भी है । ब्राह्मण और हरिजन बालक को एक साथ रखने मे यह डर जरूर है कि जो दभ अभी तक ब्राह्मणो तक सीमित था, वह हरिजनो मे भी फैल जायगा । लेकिन जहा हम शिक्षण देने के लिए बैठे है, वहा ऐसे खतरो को तो उठाना ही चाहिए। जहा खतरा नही, वहा प्रयोग नही । जहा प्रयोग नही, वहा शिक्षण नही । मुझमे ही हिम्मत न होगी तो मै हार मानूगा । लेकिन सिद्धान्त को कायम रखूगा ।"

एक लडकी ने मुझसे कहा, "भगवद्‌गीता मे तो स्त्रियो के लिए कोई शिक्षा ही नही दीखती । वहा स्थितप्रज्ञ है, गुणातीत है, योगी है । लेकिन स्थितप्रज्ञा, गुणातीता, योगिनी, के लक्षण वताये ही नही है ।" यह शायद 'ही' और 'शी' वाली अगरेजी कानून की भाषा चाहती थी । मैने उससे कहा, "उसकी फिक्र मत कर । गीता खुद तो स्त्री है और उसके उदर मे ये स्थितप्रज्ञ आदि पडे है । हमे तो गुरुमत्र मिला है 'तत्वमसि' । गोरा-काला, हरिजन-परिजन, हिन्दू-मुसलमान, स्त्री-पुरुष, ये सब भ्रम है । तू इनसे भिन्न विशुद्ध केवल आत्मा है । तू शव नही, शिव है । तुझे छोडकर यह सब शव है । तू शव का विच्छेदन किसलिए कर रहा है ? भेद तो इस शव के कारण है । केवल आत्म-तत्व ही एकमात्र जिन्दा चीज है । उसे पहचान, इसे भूल जा । विचार-भेद मे अभेद को देखना उत्तम बुद्धि का लक्षण है, पुरुषार्थ है। भेदो को बढाना हीन बुद्धि का लक्षण है, पुरुषार्थ-हीनता है ।

: १४ :

सीता तो प्रत्येक नारी बन सकती है

यह मान्यता सैंकड़ो वर्षों से चली आ रही है कि स्त्रियों की रक्षा का भार पुरुषों पर है। परन्तु जबतक यह मान्यता कायम रहेगी तबतक सही अर्थों में स्त्रियों की रक्षा होना असंभव है। पहले तो स्त्री को रक्षा की जरूरत है, ऐसा मानने की आवश्यकता ही नहीं है। फिर भी माना गया है, इसका कारण क्या है? इसलिए कि उसके पास हिंसा के पर्याप्त साधन नहीं हैं। हिंसा के क्षेत्र में तुलनात्मक दृष्टि से वह पुरुष की अपेक्षा कमजोर पड़ जाती है। इसी कारण वह पुरुष द्वारा रक्ष्य समझी गई है, अर्थात् इसमें हिंसा की प्रतिष्ठा को मान्य कर लिया गया है। परन्तु आज की परिस्थिति तो हमें साफ-साफ कह रही है—जरूरत यह है कि प्रतिष्ठा हिंसा की नहीं, अहिंसा की होनी चाहिए।

हमें यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि आत्मा के बल पर हर परिस्थिति में स्त्री अपनी रक्षा करने में समर्थ है। शरीर-बल पर अवलम्बित रहने की अपेक्षा आत्मा के बल पर जीने की कला हम सभीको सीख लेनी चाहिए। मैं तो मानता हूं कि जिसे जीवन-भर सेवा करनी है, उसे आत्मज्ञान समझ ही लेना चाहिए। आज आत्मज्ञान शब्द हमें बड़ा भारी लगता है। परन्तु यह वस्तु इतनी सरल और आसान है कि एक छोटे-से बच्चे को भी समझ में आनी चाहिए। गणित का विषय शायद मुश्किल मालूम हो सकता है, परन्तु आत्मज्ञान तो गणित से भी आसान है। वर्ड्सवर्थ की एक प्रसिद्ध कविता है—'वी आर सेवन', अर्थात् हम सात हैं। कविता में एक लड़की अपने मरे हुए भाई की भी गिनती जिन्दों में करती है कि हम सात हैं। आत्मा की अमरता का भान उसे सहज ही होता है।

इस वात को समझना कठिन नही है। परतु उसके अनुसार आचरण करना कठिन मालूम होता है, क्योकि आज हमारा सारा जीवन शरीर-प्रधान वन गया है। सौदर्य के वारे मे हो या बल के बारे मे, हमारी दृष्टि शरीर-प्रधान ही रहती है। जबतक शरीर-परायणता बनी रहेगी तवतक स्त्रियो के चित्त मे भी भय सदा वना ही रहेगा। जुल्म करनेवालो ने लोगो की इस शरीर-परायणता का बहुत अधिक लाभ उठाया है। भय भी इसीसे पैदा होता है।

हमारे एक शिक्षक मित्र वेत की महिमा का वर्णन करते थे। एक लडका रोज देर से स्कूल पहुचता। उसे बहुत समझाया, परतु सब व्यर्थ। अन्त मे वेत दिखाते ही वात समझ मे आ गई और वह समय पर आने लगा। परतु इसका परिणाम क्या हुआ? शिक्षक ने उसे नियमित तो बना दिया, लेकिन इसके साथ वह भीरु भी बन गया। भीरु बनने की अपेक्षा वह देर से ही आता रहता तो कही अच्छा होता। निर्भयता की जगह मैं किसी भी दूसरे गुण को स्वीकार करने को तैयार नही। चिन्तामणि खोकर काच कौन लेगा?

जवतक मनुष्य को भय का स्पर्श नही होता तवतक वह पाप नही करता। इसलिए माता, पिता और शिक्षको का कर्तव्य है कि बच्चो को निर्भय वनने की शिक्षा दे। वे स्वय कभी वच्चो को न मारे और इसके साथ-साथ उनके दिल पर यह भी अकित कर दे कि उनको कोई कितना ही मारे तो भी मार के भय से वे एक न सुने। आइन्दा हमारे घरो और आश्रम-सस्थाओ मे बच्चो को यही शिक्षा दी जानी चाहिए। ऐसा करने से हमारे दिलो मे अहिसा का विकास होगा।

रामायण मे हम सीता का वर्णन पढते हैं। रावण उससे ऐसी बात कहता, जिससे उसे रोष आता था। परतु वह उससे एक शब्द भी नही वोलती थी। केवल एक वार बोली थी और सो भी घास का एक तिनका वीच मे रखकर। इसके द्वारा उसने रावण को यह दिखाने का प्रयत्न किया कि मै तुझे इस घास के तिनके के वरावर समझती हू। रावण उसका कुछ भी नही कर

सका। हमें सीता के उदाहरण को असामान्य नहीं मानना है। यदि ऐसी बात होती तो यह उदाहरण हमारे सामने क्यों रक्खा जाता? कांग्रेस की अध्यक्षा हर स्त्री नहीं हो सकती, परन्तु सीता तो हर स्त्री हो सकती है, आत्म-बल के सहारे निर्भय रहनेवाले मनुष्य की आंखों में एक प्रकार का तेज होता है। उसका असर दूसरों पर पड़े बिना नहीं रहता। उस तेज को पशु भी पहचान लेते हैं।

वाल्मीकि और नारद की कहानी तो सब जानते हैं। वाल्मीकि ने इतने लोगों की हत्या की, परन्तु नारद के समान निर्भय मनुष्य उसे तबतक नहीं मिला था। उसे तबतक जितने भी लोग मिले वे या तो डरकर भाग जाते या उसपर उलटकर हमला करते थे। हँसकर सत्यभरी दो बातें कहने-वाले उसकी उम्र में सबसे पहले पुरुष उसे नारद ही मिले। परिणाम यह हुआ कि जो वाल्मीकि एक हिंसक भील था, वह एक महान् ऋषि बन गया। इस कहानी में जीवन का सिद्धान्त भरा हुआ है। अगर हम निर्भय और शान्त रहें, तो हमपर शस्त्र उठानेवाले का हाथ वहीं-का-वहीं रह जायगा।

एक सज्जन ने मुझसे पूछा कि महिलाश्रम-जैसी संस्था पर यदि गुण्डे हमला कर दें तो क्या किया जाय? इसका जवाब बिल्कुल आसान है। है। अगर सभीको जचे तो आक्रमण होते ही बिगुल फूंककर सबको एकत्र कर लिया जाय और भगवान् का भजन शुरू कर दिया जाय, परन्तु इसके लिए श्रद्धा की जरूरत है।

इसके विपरीत मान लीजिये कि आश्रम की बहनों के हाथों में हम तल-वार दे दें, परन्तु संभव है, आक्रमण करनेवालों के पास तलवारों की अपेक्षा अधिक परिणामजनक हथियार हों, तब हमारी तलवारें निकम्मी साबित होंगी। इस महायुद्ध में शरीर-बल की विफलता का हमें काफी दर्शन हुआ है। एक तरफ दस-दस और बीस-बीस लाख की सेनाएं आक्रमण करती दिखाई दीं, दूसरी ओर यह भी देखा कि उतनी ही बड़ी सेना हारकर सब छोड़-कर शरण में चली गई है। जब प्रतिद्वंद्वी बलवान दिखाई देता है तो वे हथि-यार डालकर शरण में चला जाता है। अन्त तक लड़ते रहने की बातें तो

बहुत-से लोग केवल मुह से ही कहते रहते है।

इसलिए मैंने शुरू मे कहा कि हमे आत्मशक्ति पर निर्भर रहना चाहिए। स्त्रियो मे आत्मशक्ति की किमी भी प्रकार से कमी नही होती। परतु उसे प्रकट करने के लिए जीवन को तदनुकूल बनाना होता है।

खाने के लिए जीना नही, बल्कि जीने के लिए खाना चाहिए। जिस प्रकार हम मकान का किराया देते है या चरखा अच्छी तरह चले, इसलिए उसे तेल देते है, उसी प्रकार शरीर से अच्छी तरह काम लेने के लिए उसे आवश्यक पोपक तत्व देने चाहिए। दीपावली आने पर हम चरखे मे चमेली का तेल नही देते। उसी प्रकार केवल ऐश या विलास के लिए नही, नितान्त आवश्यकता का हिसाव लगाकर शरीर को खुराक देनी चाहिए। यह एक शास्त्रीय प्रयोग है, उसमे भोग-विलास के लिए स्थान नही है। भोग-विलास पर आधारित जीवन मौका आते ही बैठ जाता है, टिक नही पाता।

यदि एक आदमी दूसरे से कहे कि "तुम्हे मुसलमान बनना ही पडेगा, नही तो हम तुम्हारी जान ले लेगे।" तब वह उससे साफ-साफ समझाकर कहे "भले आदमी, मुसलमान बनने के लिए एक खास प्रकार की श्रद्धा की जरूरत होती है। ऐसी श्रद्धा कभी जबरदस्ती से पैदा नही की जा सकती।" इतना कहने पर भी यदि वह निरा मूर्ख हो और कहे "मै कुछ नही जानता, कलमा पढो, नही तो मरने के लिए तैयार हो जाओ" तो उसे शातिपूर्वक यह कहना आना चाहिए—"अरे भाई, मरना तो सभीको है। कोई आज मरेगा, कोई कल। अच्छा, मार डालना चाहता है ? तो ले मार डाल।" परतु इसके विपरीत यदि वह उस आदमी की बात को चुपचाप मान लेगा, तो उसके तुच्छ शरीर की भले ही किसी प्रकार रक्षा हो जाय, परतु उसकी आत्मा का अधिक-से-अधिक अपमान होगा। अपमानित होकर जिन्दा रहने की अपेक्षा मरकर मुक्त हो जाने की शक्ति यदि होगी तो एक छोटा-सा बच्चा भी निर्भयता के साथ किसी भी सकट का सामना कर सकेगा।

व्यवस्थित रहने की तालीम तो हम सबको अवश्य ले लेनी चाहिए। कही आग लग जाय तो उसे बुझाने के लिए हम सब हिल-मिलकर व्यवस्था-

पूर्वक ऐसे काम करें, यह हम सबको सीखना चाहिए। यह शिक्षण हमें कवायद में और लाठी के खेल में मिल सकता है। परन्तु इतने से हम यह न मान लें कि काम चल जायगा। शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान हमें होना चाहिए। यदि यह ज्ञान हमें होगा तो शरीर की चिन्ता न करते हुए हँसते-हँसते मृत्यु का सामना करने में ये खेल हमारी मदद कर सकेंगे। महिलाश्रम में देश के सभी भागों से बहनें आती हैं। वे यहांपर सुन्दर संस्कार और शिक्षण प्राप्त करती हैं। आप सब इस तरह निर्भयतापूर्वक जीने और मरने की कला सीख लेंगी तो आज की नाजुक परिस्थिति में देश की बहुत बड़ी सेवा कर सकेंगी और परम श्रेय प्राप्त करेंगी।

: १५ :

शंका-समाधान

दो वहिने लिखती है :

प्रश्न १ विनोबा के महिला-शिक्षण-परिषदवाले भाषण[1] में मुख्य वात स्त्री-पुरुषो के शिक्षण में अभेद की थी। परंतु हमारा खयाल है कि कम-से-कम कुछ वातो में तो भेद करना ही पडेगा। स्त्रियो को मासिक धर्म, गर्भावस्था और प्रसूति का भार उठाना पडता है। इससे सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा तो उन्हींको लेनी चाहिए। पुरुषो को इस शिक्षा की कोई जरूरत नही। इससे केवल उनका समय नष्ट होगा। माता जवतक बच्चे को दूध पिलाती है तवतक बच्चे के शारीरिक और मानसिक विकास का ध्यान जितना माता रख सकती है, उतना पुरुष नहीं। इसलिए इस विषय की शिक्षा भी स्त्रियो को अलग से ही मिलनी जरूरी है।

प्रश्न २ दोनो का सवर्धन एक ही प्रकार के वातावरण मे हो, तो भी दोनो के शारीरिक विकास मे अतर तो पडेगा ही। स्त्री जन्मदात्री होती है। इस कारण उसके स्नायु, अस्थि आदि मृदु रहेगे ही। इस मृदुता को सह्य हो और वह टिकी रहे, ऐसे ही कार्यभार उसे देने चाहिए, और कार्यो को यदि अलग मान लिया तो शिक्षा भी अलग हो जायगी।

प्रश्न ३ शिक्षा-शास्त्रियो का कहना है कि सात से चौदह वर्ष की उम्र तक दोनो को समान शिक्षा दी जाय। इसके वाद प्रत्येक की अभिरुचि और जरूरत के अनुसार शिक्षा दी जाय।

---

१ 'स्त्री-पुरुष-अभेद' शीर्षक १३वें अध्याय का लेख देखिये।

स्त्री स्त्री है, इस कारण उसकी रुचि और आवश्यकता स्वभावतः पुरुषों से भिन्न होगी। हम अपनी पाठशालाओं में भी देखते हैं कि लड़कियों को गणित आदि विषयों की अपेक्षा सीना-पिरोना, रसोई, आदि कामों में अधिक रुचि होती है। इसलिए उनके लिए भिन्न पाठ्यक्रम होना चाहिए। इस प्रकार की रुचि रखनेवाले लड़कों के लिए आवश्यक हो तो वह पाठ्य-क्रम उनके लिए खुला रखा जा सकता है।

प्रश्न ४ यह प्रश्न कुछ अलग प्रकार का है। 'हर स्त्री सीता बन सकती है' इस लेख में कहा गया है कि बच्चों को सजा का डर दिखाकर सुधारने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, उन्हें निर्भय बनाना चाहिए। परंतु बहुत बार यह सुसाध्य नहीं होता। हमारी ढाई वर्ष की एक भानजी है। वह बहुत जिद्दी और रोनी है। एक बार रोना शुरू हुआ कि घंटों रोती रहती है, कितना ही समझाए घर में काम करना कठिन हो जाता है। ऐसे बच्चों के लिए एक स्वतंत्र नर्सरी हर घर में नहीं रखी जा सकती। इसलिए आखिर उसे डाट-डपट दिखाकर और कभी पीटकर ही चुप करना पड़ता है। तब वह डर से थरथर कांपती हुई चुप हो जाती है। यह लड़की निश्चय ही डरपोक बन जायगी। हमारे समाज में भीरु एक भी मनुष्य नहीं होना चाहिए, परंतु व्यवहार में इसे कैसे लायें?

पहले तीन प्रश्नों का एक साथ विचार करेंगे। मेरे भाषण का मुख्य विषय स्त्री-पुरुषों के शिक्षण में कोई भेद न हो, यह नहीं था, बल्कि यह था कि कुल मिलाकर स्त्री-पुरुषों में मूलतः अभेद है। सामाजिक दर्जा, आर्थिक अधिकार, नागरिक अधिकार, कुटुम्ब में स्थान, नैतिक योग्यता, शिक्षण-क्षमता, मानसिक भाव, गुणोत्कर्ष—ये सारी बातें दोनों में समान होती हैं, और यह उस भाषण का मुख्य मुद्दा था। स्थूल शिक्षण में कुछ फर्क हो सकता है। उससे मूल बात में कोई फर्क नहीं होता। अलग-अलग पुरुषों में भी अलग-अलग शिक्षा की जरूरत हो सकती है। वैसी स्त्री-पुरुषों में भी हो सकती है। सन्तान के बारे में विशेष ज्ञान स्त्रियों को चाहिए, परन्तु पुरुष को उसकी बिलकुल जरूरत नहीं है, सो बात नहीं। ग्राम-निय-

यक जिम्मेदारी तो दोनो की है। भले ही उसके [illegible] रहा।

परन्तु मुख्य विचारणीय विपय तो यह है कि दोनो मे जीवन का उद्देश्य एक है या भिन्न-भिन्न ? मैं कहता हू कि एक ही है। मानव-जीवन का उद्देश्य पूर्णता प्राप्त करना है। उसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न कार्य मजे मे किये जा सकते है। उन भिन्न कार्यो के लिए भी मनोविकास की एक बुनियाद की जरूरत होगी। इस प्रकार बुनियाद एक है, शिखर एक है और बीचवाली इमारत का आकार भी एक है, इतना समझ लेने के बाद फिर खिडकिया, आले, रग-रगाई मे जितना फर्क करना हो, सो किया जा सकता है।

आज लडके-लडकियो की अभिरुचियो और शालेय विषयो के चुनाव मे जो फर्क दिखाई देता है, उसका कारण सामाजिक उपाधिया है। रसोई, सीना-पिरोना इत्यादि विषय लडकियो को अधिक पसन्द होते है, ऐसा कहना गौण है। मैंने ऐसी लडकिया देखी है, जिन्हे गणित अच्छा लगता है और रसोई बनाने का शौक रखनेवाला पुरुप तो मैं खुद ही हू। मुझे गणित भी पसन्द है। ऐसा मुझे एक भी विषय नही दिखा, जो अच्छा न लगा हो। आज के कृत्रिम सामाजिक वातावरण को यदि हटा दे और अकारण के निष्क्रिय बौद्धिक विषयो की पढाई बद कर दी जाय, तो मेरे समान सभीको जीवन के सभी विषय अच्छे लगने लगेंगे और उनमे स्त्री-पुरुषो का भेद नही रहेगा।

चौथा प्रश्न मनोरजक है। निर्भयता सब सद्‌गुणो का आधार है। उसे गवाकर दूसरा कुछ भी कमाने की बात करना अभागेपन का लक्षण है। यह जच जाने के बाद तो उस प्रश्न मे केवल मनोरजन ही रह जाता है। उसका सामाजिक उत्तर देना हो तो पूर्व-बुनियादी शिक्षण की योजना अर्थात् बाल-बाडी है। कौटुम्बिक उत्तर यह है कि बच्चे कुटुम्ब मे आनुषगिक वस्तु नही, बल्कि मुख्य वस्तु है, इतना समझकर गृहस्थ जीवन की योजना करनी चाहिए। प्रत्यक्ष प्रश्न का उत्तर यह है कि उस लडकी को जिस प्रकार दिल से रोना आता है, उसी प्रकार उसकी मामी को दिल से हँसना आना चाहिए। यह उपाय आजमाने जैसा है। हँसी के सामने रोना टिक नही सकता।

शर्त केवल यही है कि रोना यदि दिल से हो रहा है, तो हँसी भी दिल से हो। मेरा अपना अनुभव तो यह है कि छोटे बच्चों मे जितनी समझ होती है उतनी बडो में नही होती। इसलिए ज्ञानी पुरुषो ने एक आचार-सूत्र ही बना दिया है कि "बच्चो के समान आचरण करो।" एक उडनेवाला कौवा भी बच्चे को हँसा सकता है। एक अबोध बालक अपनी मा पर पूरा विश्वास करके उसके उदर मे जन्म ग्रहण करता है, निर्भयता के साथ उसकी गोद मे सोता है और वह जिसे चन्द्र कहती उसे चन्द्र और जिसे सूर्य कहती है उसे सूर्य समझता है। ऐसे बच्चो के बारे मे मां-बाप किस मुह से शिकायत कर सकते है ? फिर भी लिखनेवाली बहन के लिखे-अनुसार मामी के दिल मे बच्ची को पीटने की ही प्रेरणा हो तो इस क्रिया का कर्मत्व भी वह अपने आप पर ले सकती है।

: १६ :

अहिंसा का सिद्धांत और व्यवहार

प्रश्न : पूर्ण अहिंसा की आपकी कल्पना क्या है ?

उत्तर : पूर्ण अहिंसा की कल्पना आज नही की जा सकती। आज तो हम केवल इतना ही सोच सकते है कि अहिसा की दिशा मे हम कहातक और किस पद्धति से जा सकते है। अहिसा की हमारी कल्पना अभी मनुष्य-समाज से आगे नही बढी है। यो देखा जाय तो अहिसा को केवल मनुष्य-समाज तक सीमित रखने का कोई कारण नही है, और इस मर्यादा मे रहकर उसको भी सतोष नही होगा। सम्पूर्ण सृष्टि को जब वह अपने अन्दर समाविष्ट कर लेगी तभी उसे सतोष होगा। दिशा-दर्शन के रूप मे हम केवल इतना कह सकते है कि निर्भयता, समता और दया-भाव इन गुणो के विकास से अहिसा पूर्ण हो सकती है।

निर्भयता—हम किसीसे न डरे। डरने लायक किसीके पास न कुछ होता ही है। आत्मा अमर है और शरीर बाहरी रूप है। उसमे आत्मा लिप्त नही होती। हम जिसे शत्रु कहते है, वह भी परिशुद्ध आत्मा का ही रूप होता है। इसलिए अपने मे और दूसरे मे भेद करने का कोई कारण नही है। मा अपने बच्चे के साथ एकरूपता का अनुभव करती है। उसकी यह अनुभूति व्यापक नही, परन्तु दृष्टान्त के रूप मे उसे बताया जा सकता है। इस एकरूपता का अनुभव हमे भी करना चाहिए। फिर डरने लायक कुछ नही रह जायगा। हिसावादियो ने एक-से-एक बढकर सहारक शस्त्र बनाये हैं, परन्तु जब वे देखेगे कि सामनेवाला समाज डर ही नही रहा है, तब इनके हाथ से शस्त्र गिर पडेंगे।

समता—हममे ऊच-नीच-भाव बहुत है। श्रमिको को हम नीचा समझते

है। उनसे लाभ उठाने की और उनके श्रम का उपयोग करके उनपर ही उपकार लादने की हमारी वृत्ति रहती है। हम अपने-आपको उनका आश्रय-दाता समझते है। यह सब गलत है। हमे श्रम-निष्ठ होना चाहिए। कोई-न-कोई उत्पादक श्रम करना चाहिए। उसके बगैर कम-से-कम मैं तो किसी-को खाना नही दूंगा, फिर वह न्यायाधीश हो या प्रोफेसर। शरीर-श्रम के बगैर अहिंसा सिद्ध हो ही नही सकती। श्रम मे ही मानव की मानवता है। किसीके कन्धे पर सवार होकर आप उसकी सेवा नहीं कर सकते। अभी तक लोग यही करते रहे हैं। किंतु अब यह नही चलेगा। जबतक आप स्वयं मजदूर नही बनेंगे तबतक मजदूरो की सेवा आप नही कर सकेंगे।

दया—कही भी अन्याय देखकर हमे क्रोध आता है और हम उसका प्रतिकार करने का विचार करने लग जाते है। क्रुद्ध होकर जो प्रतिकार किया जाता है, वह हिंसा ही है, भले ही हमने शस्त्रो की सहायता ली हो या न ली हो। शिक्षक को विद्यार्थी के अज्ञान पर दया आती है। अन्याय के प्रतिकार मे भी इसी प्रकार की दया होनी चाहिए, क्योंकि आदमी से जब कभी भूल होती है, तो वह मोह या अज्ञान के कारण ही होती है। इसलिए द्वेष के निवारण या प्रतिकार मे क्रोध की भावना नही आनी चाहिए, बल्कि उसमें तो दया की आवश्यकता होती है। इस प्रकार इन तीन गुणो—निर्भयता, नम्रता और दया के विकास से पूर्ण अहिंसा का दर्शन हो सकता है।

प्रश्न : गांधीजी के ट्रस्टीशिप के बारे में आपकी क्या राय है ?

उत्तर : गांधीजी पुराने शब्दो का प्रयोग करते है, इसलिए गलतफहमी का मौका मिल जाता है। मै उस शब्द का उनके जितना उपयोग नही करता, क्योंकि उनका जन्म पुराने जमाने मे हुआ है, पर मै तो इस युग मे पैदा हुआ हूं।

ट्रस्टीशिप बड़ा विचित्र शब्द है। इसका प्रयोग चर्चिल, ट्रूमैन और तोजो, ये सब कर सकते है। यह अभागा शब्द इतना निकम्मा हो गया है कि इसमें नया अर्थ भरना लगभग असंभव हो गया है। फिर भी हमें अहिंसा-विचार के अनुसार सद्भावना-सूचक पुराने शब्दो को स्वीकार करना

चाहिए । तदनुसार गाधीजी ने इस शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थ मे किया है। आज के समाज मे कुछ लोगो को दूसरे के मार्गदर्शन और रक्षण की जरूरत कदम-कदम पर होती है। **'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रवदाचरेत्'** इस वाक्य के अनुसार लडके को कम-से-कम पन्द्रह वर्ष की उम्र तक तो सरक्षण की जरूरत रहती है। इस अवधि मे बच्चो के ट्रस्टी माता-पिता ही होते है। समाज की रचना मे हम चाहे कितना ही परिवर्तन करे फिर भी बच्चो के ट्रस्टी तो माता-पिता ही रहेगे। हा, अपने पैरो पर खडे हो जाने के बाद उन्हे अपने माता-पिता की सलाह की जरूरत शायद न भी रहे। यद्यपि यह विचार पूर्ण मानव-समाज पर लागू नही किया जा सकता, फिर भी मैंने उदाहरण इसलिए लिया कि इस प्रकार की सलाह की जरूरत समाज को सदा बनी रहेगी। बचपन मे बच्चो को अपने बडो से जिस प्रकार सरक्षण मिलता है, उसी प्रकार बडे होने पर वे अपने बच्चो को ऐसा सरक्षण देगे। मेरे मत से ट्रस्टीशिप का अर्थ यही है।

सारी सम्पत्ति सार्वजनिक मान ली जाय और उसकी व्यवस्था के बारे मे कुछ नियम बना लिया जाय। अगर ट्रस्टी इन नियमो के अनुसार सम्पत्ति की देखभाल न करे तो उनके ट्रस्टीशिप को रद्द कर देने का अधिकार जनता को होना चाहिए। जिनके पास सम्पत्ति है, वे यदि उस सपत्ति का उपयोग सार्वजनिक काम के लिए नही करते है तो उनके पास से यह धन-दौलत छीन ली जाय। मैं मानता हू कि ट्रस्टी की परिभाषा मे यह बात गृहीत मान ली गई है, परतु इस छीन लेने की प्रक्रिया मे हिसा का स्थान न हो। यदि किसीके पास एक हजार एकड जमीन है तो उसकी काश्त वह तो कर नही सकता। उसे इसमे दूसरे की सहायता लेनी ही पडेगी। मैं कहूगा कि कोई भी मजदूर आठ घटे से अधिक काम न करे और दो रुपये से कम मजदूरी न ले। तब मालिक को कोई बचत नही होगी। वह खेती करना खुद-ब-खुद छोड देगा और या तो अपनी जमीन लोगो को बाट देगा या सरकार को लौटा देगा। सरकार भी यह जमीन स्वीकार कर लेगी। हा, यदि जमीदार चाहेगे कि जमीन की काश्त तो किसान करे और वे केवल सलाह देते

रहे, तो मैं वह जमीन उनके नाम पर भी रहने दे सकता हू। उनकी व्यवस्था-शक्ति का उपयोग मैं कर लूगा। सरकार की तरफ से उस जमीन के व्यवस्थापक के तौर पर वे काम कर सकते हैं, परतु उनकी वृत्ति ठीक नही होगी तो सारी जमीन उनके पास से ले ली जायगी।

प्रश्न . परंतु कानून भी तो हिंसा ही है न ?

उत्तर नही। जो कानून लोकमत को प्रकट करता है और अच्छा भी है, वह अहिंसा का चिह्न है। हा, फौज के बल पर बनाया और लादा गया कानून जरूर हिंसा का रूप माना जायगा। उदाहरण के लिए, कोई चोरी न करे, यह कानून हिंसात्मक नही। शराब-बन्दी की बात लीजिये। अमरीका मे भी चुनाव 'वेट' (शराब) और 'ड्राई' (शराब-बन्दी) के मुद्दो पर होते हैं। इस समय वहा वेट-वालो का राज है। भारत मे शराब-बन्दी के अनुकूल इतना जोरदार लोकमत है कि शराबबन्दी का कानून हिंसा नही गिना जायगा। परतु कानून के द्वारा की गई शराबबन्दी अमरीका मे अहिंसा की मर्यादा मे नही मानी जायगी।

प्रश्न परंतु जमीन पर स्वामित्व किसका होगा ?

उत्तर यह प्रश्न ठीक नही, क्योकि अन्त तक बचता कौन है ? न खेत जोतनेवाला रहता है, न मालिक। बचती है जमीन। और वही हम सबकी स्वामिनी है। हवा पर किसकी सत्ता है ? जिसके नाक हो, वह हवा ले। परतु हवा स्वय स्वतन है। इस विषय मे तो यही कहा जा सकता है कि जो जमीन की सेवा करेगा, उसकी वह मानी जाय। जमीन पर किसी की सत्ता नही हो सकती। इसलिए जरूरत से अधिक जमीन रखने अथवा उसके स्वामित्व का निश्चय करने का प्रश्न ही नही उठता। जमीनें छीन लो, यह मैं आज नही कहूगा। जमीन का उचित किन्तु कम-से-कम मुआवजा देने के लिए मैं तैयार हू। इतने से जमींदारो को यदि सन्तोष नही होगा तो मैं कहूगा कि काम करो, और वे काम करने के लिए भी तैयार नही होंगे तो मैं उनकी सारी जमीन सरकार मे ले लूगा और लोगो को उनकी जरूरत के अनुसार बाट दूगा।

प्रश्न : परतु जिन्होने अभी तक जमीन का दुरुपयोग किया, उनके पास जमीन क्यो रहनी दी जाय ?

उत्तर यह तो देखना होगा। इन लोगो के पूर्वजो ने चाहे कुछ भी न किया हो, परतु इनकी बुद्धिशक्ति का उपयोग हम अवश्य कर सकते है। पुराने शिक्षको को ट्रेनिग देकर जिस प्रकार हम नई तालीम मे उनका उपयोग कर सकते हैं, इसी प्रकार उन पुराने मालिको का भी मै उपयोग कर सकता हू। हा, ट्रेनिग देने पर भी यदि वे उपयोगी सिद्ध नही होंगे तो दूसरी बात है। परतु उन्हे मौका तो देना ही चाहिए न ? अगर वे समय को नही पहचानेगे तो सर्वस्व खो बैठेगे।

प्रश्न : परतु इसके विषय में लोगो में जागृति कैसे लाई जाय ?

उत्तर यह लाई जा सकती है। जमीदारो को खत्म करने की बात कहकर यदि जागृति लाई जा सकती है तो उनका उपयोग कर लेने की अहिंसात्मक बात भी उन्हे समझाई जा सकती है। जबतक स्वय मजदूर बनकर आदमी मजदूरो मे काम नही करने लगेगा, तबतक मजदूरो मे जागृति नही लाई जा सकेगी। जब हम स्वय मजदूरी करने लगेगे तब मजदूरी या वेतन अपने-आप बढेगा ही। पढे-लिखे लोग भगी का काम करने लगेगे तो भगियो का वेतन बढेगा, लोगो को स्वच्छता-सफाई की शिक्षा मिलेगी और कानून भी बनेगे। इससे सुधार तेजी से होगा। हम मजदूर बनेगे तो मजदूरो मे जागृति होगी। इस प्रकार पढे-लिखे लोग मजदूर बन जायगे तो मजदूरो का जीवन ऊचा उठेगा और मालिक भी अदृश्य हो जायगे।

प्रश्न : गाधीजी कहते हैं कि जोतनेवाला जमीन का मालिक है। यह अहिंसा से कैसे होगा ?

उत्तर इसमे शका कैसी ? यह तो गाधीजी ने क्रान्ति की बात कह दी। लोग कहेगे कि जमीन सारे गाव की है। सब मिलकर खायगे। जमीन का मालिक बनकर यदि कोई सामने आयगा तो उसे भी कहेगे कि काम कर और खा। जमीदार आज लगान का बहुत-सा हिस्सा खुद रख लेता है। यह रिश्वत है। गाववाले लगान देने से इन्कार कर देगे तो जमीदार लाचार

होकर सरकार से कह देगा कि मुझे जमींदारी की जरूरत नहीं है। असल बात तो यह है कि राष्ट्रीय सरकार जनता की सरकार होगी। इसलिए सारी जमीन जनता की होगी और उस जमीन का बंटवारा भी सरकार अर्थात् जनता ही करेगी। उसके बारे मे जो भी निर्णय करना होगा, वह सरकार अर्थात् जनता ही करेगी।

प्रश्न : तब रूस और भारत में फर्क क्या रहेगा ?

उत्तर : फर्क यह रहेगा कि हम सबसे बातचीत करेंगे। उनकी कठिनाइया समझने की कोशिश करेंगे और उन्हें दूर करेंगे। जमीन के मालिक बनने या उसपर हक जताने का साहस हमारे यहा कोई नही करेगा। परन्तु रूस मे जिस प्रकार लोग खोपडिया फोडने के लिए तैयार हो गये, ऐसा हम यहा नही करेंगे। बेशक, रूस का रास्ता नजदीक का रास्ता—शार्ट कट—है, परतु मैं तो मानता हू कि यह शार्ट कट बड़ा लाग यानी लम्बा है। अन्त मे हमारी सरकारे भी सबकी ट्रस्टी बनेंगी और जमीदारो की अन्य जिम्मेदारिया भी वे उठा लेगी।

प्रश्न : परंतु अन्त में सत्ता का हस्तान्तरण ठीक ढंग से कैसे होगा ?

उत्तर : सत्ता के हस्तान्तरण का अर्थ यह नही कि किसी एक तानाशाह के हाथो मे सत्ता सौंप दी जाय। सामान्य जनता मे बच्चे, बूढे, स्त्रिया सबका समावेश होता है। उनके पास कौन-सी शक्ति है ? किसी खास वर्ग मे जो बुद्धि होती है, वह सामान्य जनता मे नही होती। इसलिए यदि हिंसा को स्थान देंगे तो एक वर्ग को सदा पराधीन ही रहना पड़ेगा। स्त्रियों को पुरुषो के अधीन और बच्चो को बडो के अधीन रहना होगा। हिंसा-मार्ग मे बच्चो और बूढो का कोई उपयोग नही होता। रूस मे आखिर तानाशाही (डिक्टेटरशिप) ही जारी है। स्टालिन और अकबर मे क्या फर्क है ? आखिर लोग यही तो कहेंगे कि स्टालिन भी एक अच्छा बादशाह है।

सच पूछिए तो स्वराज बहुत आसान है। केवल लोगों की समझ मे आ जाने की बात है। नोटों का चलन और लगान देना बन्द किया कि सरकार खत्म। तब लोगो पर बम जरूर बरसाये जा सकते है, परन्तु वे कहां-कहा

कितने लोगो पर बरसायेगे ? केवल बम्बई और पूना मे रहनेवाले मुट्ठीभर लोगो पर। गाव मे रहनेवाली असख्य जनता तो सुरक्षित रहेगी। समाजवादी लोग कहते है कि अन्त मे सरकार समाप्त ही होनेवाली है, परतु समाप्त होने से पहले अतिशय मजबूत सत्ता की स्थापना कर लेना जरूरी है। लेकिन यह तो परस्पर-विरोधी बात है। भारत के लोग जिस समय समझ लेगे कि सरकार समाप्त हो गई, समझ लीजिये कि सरकार उसी समय समाप्त हो गई। परतु अभी भी यह बात उनके दिमाग मे घुस नही रही है।

प्रश्न : लेकिन यह सब होगा कैसे ?

उत्तर कालेज छोडने पर सीधे गाव मे चले जाने से यह हो सकता है। आपको अपनी स्नातकोत्तर (पोस्ट-ग्रेजुएट) पढाई वही करनी है। अगरेज समझ गये है कि अब भारत एक-न-एक दिन उनके हाथ से निकल जानेवाला है, या तो स्वतन्त्र होगा या रूस उसे हजम कर जायगा। इसलिए आधी या चौथाई सत्ता देकर अगरेज हमारे अन्दर फूट पैदा करेगे और हमारे आदमियो के हाथो ही हमे पिटवायगे। तब अगर मेरे जैसा कोई खडा होकर कहेगा कि लगान मत दो तो काग्रेस की सरकार ही उसे जेल भेज देगी। इसलिए चार आने सत्ता लेने के बजाय सोलह आने क्रान्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न : गाय के दूध की तरह बकरी के दूध की भी हिमायत आप क्यो नहीं करते ?

उत्तर . यहा का सब काम ग्रामोद्योग की दृष्टि से चल रहा है। केवल दूध के नाम पर बकरी को जिन्दा नही रखा जा सकता। लोगो को बकरी का दूध चल जाता है, परन्तु उसके साथ बकरे का मास भी वे पसद करते है। इसलिए हमने अभी केवल मर्यादित क्षेत्र मे काम शुरू किया है। भगवान् बुद्ध ने बकरे को बचाने का प्रयत्न किया था, परतु वह उसे नही बचा सके, क्योकि बैल की तरह बकरो का दूसरा कोई उपयोग नही होता। उन्हे या तो जगल मे छोड देना पडेगा, या खा जाना चाहिए। भारत मे बकरो का

उपयोग खाने मे ही किया जाता है। तब बकरे का चमडा व्यर्थ क्यो जाने दिया जाय ? मैने आपसे प्रारंभ मे ही कह दिया कि आज हमारी अहिंसा केवल मनुष्य-जाति तक ही सीमित है, और मनुष्य-जाति आज आपस मे ही लड रही है। उसकी अहिंसा का पूरा विकास होने पर वह प्राणिमात्र के बारे मे विचार करेगी। ससार के अनेक देशो मे आज लोग गाय का दूध पीते है, परन्तु बैलो को वे खा जाते है। गाय भी जब सूख जाती है तब उसे कत्ल कर दिया जाता है। भारत मे भी इस प्रकार लाखो गाये मारी जाती है। इसलिए हम अभी केवल गाय को ही बचाने का प्रयत्न कर रहे है। बकरी को बचाने का काम आनेवाली पीढियो के लिए रख छोडा है। सारा काम एक ही पीढी में कैसे बन सकता है ? आज अगर हम गाय को बचा सके तो कल अपने-आप ही स्वय बकरी को बचाने का विचार करने लगेंगे। उपयोग के बगैर केवल भूत-दया के नाम पर किसी प्राणी को बचाना कठिन है। आज तो पूरा उपयोग हम गाय और बैल का ही कर सकते है।

प्रश्न : क्या इसमें आप अहिंसा से दूर नहीं जा रहे हैं ?

उत्तर : सो कैसे ? आज भारत मे गाय और बकरी दोनो ही कत्ल होती है। बलिदान बन्द करने से लोग बकरे का मास खाना बन्द नही करेंगे। हिन्दू-धर्म ने केवल गो-भक्षण छोडा है। इसलिए हम गाय और बैलो को बचाने का प्रयत्न करते हैं। यह केवल प्रारभ है। नदी के उद्गम की तरह यह अहिंसा का उद्गम-स्थान है। इसलिए यह छोटा है। य तो पूर्ण अहिंसक जीवन असभव ही बना रहेगा, खाने-पीने मे ही नही, सास लेने मे भी हिंसा होती है, इसलिए हिंदू-धर्म ने उसे युक्तिसगत रूप देकर कहा कि इस शरीर को ही छोड दीजिये, अर्थात् शरीर की आसक्ति छोड दीजिये। यही मुक्ति है। अहिंसा के द्वारा ही समाज मुक्ति की ओर प्रगति कर सकेगा। इस दिशा मे भारत ने अधिक किसी देश ने प्रगति नहीं की।

प्रश्न : यहां गोपुरी मे चरखे बनाने के लिए यंत्रो का भी उपयोग किया जाता है। यह क्यो ?

उत्तर : यंत्रो का हमे तिरस्कार नही करना है। यंत्र तीन प्रकार के

होते हैं। एक प्रकार के यत्र मारक होते है। उनकी हमे जरूरत नही है। दूसरे पूरक हैं। उनकी मदद हम ले सकते है। तीसरे प्रकार के यत्र मनुष्य-बल को खतम करनेवाले होते है। उनको भी हम स्वीकार नही कर सकते। पाचसौ वर्ष बाद हमे फिर इस प्रश्न पर विचार करना होगा, अर्थात् हर बार हमे विवेकपूर्वक काम करना चाहिए। गाव को बिजली दी जा सकती हे, तो मैं अवश्य दूगा। परन्तु उससे मनुष्य-बल और पशु-बल बेकार नही जाना चाहिए। हम रेलवे, छापाखाने का उपयोग करते है न ? बनारस से आप रेल मे बैठकर आये। यह ठीक है। परतु मै कहूगा, यहा सेवाग्राम या पवनार जाने के लिए मोटर की अपेक्षा अपने पावो का उपयोग करना चाहिए। ग्रामोद्योग-सघ के लोगो से मैंने इस सबध मे चर्चा नही की है। परतु अगर हम लुगदी (पल्प) तैयार करके दे सके तो गाव मे घर-घर कागज बनाया जा सकता है। यह लुगदी यत्र से भी बनवाई जा सकती है। यदि हमारे बैलो के लिए पूरा काम है और वे बेकार नही हो रहे हो, तो जरूरत के अनुसार यत्र-बल की मदद लेने मे कोई हर्ज नही। इसका मतलब है कि हम यत्रो से द्वेष नही करते। परन्तु आज की परिस्थिति मे यत्रो का कहा, कितना, कब और कैसे उपयोग किया जाय, इन सब बातो के लिए विवेक से काम लेना चाहिए।

प्रश्न : लोग हिंसा की तरफ क्यो जाते है ?

उत्तर : मनुष्य की वृत्ति है कि खुद परिश्रम न करे और दूसरे के परिश्रम से लाभ उठावे। फिर भी प्रकृति मे प्रेम ही भरा हुआ है। सफेद कपडे पर छोटा-सा धब्बा भी बुरा और बडा दीखता है। इतना बडा महायुद्ध पाच वर्ष चला। फिर भी अधिकाश लोग शाति का जीवन व्यतीत कर रहे थे। लडनेवालो की सख्या उनके मुकाबले मे बहुत कम थी। युद्ध मनुष्य-स्वभाव के विपरीत है। इसी कारण बार-बार उसकी ओर ध्यान जाता है। कम्युनिस्ट मुझसे कभी ऐसा प्रश्न नही पूछते, क्योकि उनकी कल्पना के अनुसार अत मे राज्य भी बचनेवाला नही है। मनुष्य स्वभावत अच्छा होता है और हिसा कृत्रिम चीज है, यह हमे स्वीकार करना होगा।

प्रश्न : अन्य देशो या लोगो की तुलना में भारत में अहिंसा अपेक्षाकृत अधिक क्यो दीखती है ?

उत्तर : दूसरे लोगो के साथ भारत के लोगो की तुलना करना कठिन है। फिर भी दूसरे देशो की प्रवृत्ति हिंसा की अपेक्षा अहिंसा की ओर ही अधिक है। अगर ऐसी बात नही होती तो कुटुम्ब-व्यवस्था का वहा निर्माण ही नही होता। पशुओ मे कुटुम्ब-व्यवस्था नही है। मासाहार से अन्नाहार की तरफ बढनेवाला मनुष्य क्या अहिंसा की तरफ ही नही जा रहा है ? बुझने से पहले जिस प्रकार दीये की ज्योति बडी हो जाती है, उसी प्रकार यह एटम बम हिंसा की समाप्तिकाल का आदि-चिह्न है। इसीलिए मैं कहता हू कि विज्ञान की खूब प्रगति कीजिये, क्योकि विज्ञान कहता है कि या तो मुझे बढाइये या हिंसा को बढाइये। आप हम दोनो को एक साथ नही बढा सकते, क्योकि हम दोनो मिलकर आपका सम्पूर्ण नाश करनेवाले है। इसलिए यदि हमे विज्ञान पसन्द है तो हिंसा को छोडना ही पडेगा। हम तो प्रगति चाहते है, इसलिए विज्ञान को छोड ही नही सकते। तब तो हिंसा को ही छोडना पडेगा।

: १७ .

आचरण में असफलता क्यों ?

एक हजार नौ सौ छियालीस वर्ष पहले एक महात्मा कह गया, "शत्रु से प्रेम करो।" मनुष्य के हृदय मे यह शब्द तीर की तरह प्रवेश कर गये। वह उसे हजम नही कर सका। उसने इस महात्मा के नाम पर एक शक ही शुरू कर दिया। जो दूसरे पर अपनी सत्ता नही चलाना चाहता और न दूसरे किसीकी सत्ता को मानता है, उससे बडा सत्ताधारी और कौन हो सकता है ? परन्तु यह शक उस महात्मा और मनुष्य की असफलता का एक मानदण्ड ही बन गया है।

ईसा से भी पहले यही बात बुद्ध ने भारत मे कही थी—"वैर से वैर का शमन नही होता, अवैर से ही उसका शमन हो सकता है।" हमारे लोगो ने कहा है, कि यह कोई नई बात नही है। वेदो मे भी कहा है कि 'तितिक्षन्ते अभिशस्तिर् जनानाम्'—अर्थात् दुर्जनो के आक्रमणो का प्रतिकार सज्जन तितिक्षा से करते है। बुद्ध ने कहा, "ठीक है। मेरी सिखावन यदि पुरानी ही है तो उसपर निष्ठापूर्वक अमल कीजिये और यदि नई है तो उत्साह के साथ उसके पालन मे लग जाइये।" ईसा ने तो साफ-साफ कह दिया है, "मैं पुरानी बातो को तोडने के लिए नही आया हू। मैं तो उनका जीर्णोद्धार करने के लिए आया हू। भलाई पुरानी चीज ही है। केवल उसके जीर्णोद्धार की जरूरत है।"

"शत्रु से प्रेम करो", कैसी सुन्दर, कुशल युक्ति है। वह मुझसे द्वेष करता है और मैं उससे प्रेम करता हू। मैंने उसके दिल मे अपनी छावनी डाल रक्खी है। अब वह मुझपर आक्रमण कैसे करेगा ? युद्ध उसीकी हृदय-भूमि मे शुरू होता है और मेरा दिल खुला रहता है। शत्रु की भूमि पर लडाई

: १८ :

अहिंसा का उदय

आज हम गांधी-जयन्ती के निमित्त एकत्र हुए हैं। गांधीजी ने पहले कई बार और अब भी कहा है कि इसे चरखा-जयन्ती कहना चाहिए और उसीके अनुसार उत्सव किया जाय। परंतु आज भारत में ऐसी हवा बह रही है कि विचारों की अपेक्षा मनुष्य को अधिक महत्व दिया जाता है। यह विशेषता आज की है, प्राचीन काल की नहीं। भारत के लोगों पर यह आरोप है कि उन्होंने अपना कुछ भी इतिहास लिखकर नहीं रक्खा। यह आरोप सत्य है। हमारे पूर्वजों ने भिन्न-भिन्न विषयों पर बहुत-से शास्त्रीय ग्रंथ लिखे हैं, परंतु इतिहास पर कुछ भी नहीं लिखा। हमारे श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ पुरुष कब हो गये, इसका हमें पता नहीं। उन लोगों में उत्तम-से-उत्तम ग्रंथकार हो चुके हैं, परन्तु उनके ग्रंथों में उनका नाम तक नहीं है। आजकल तो प्रस्तावना में ही लेखक अपना परिचय दे देता है। पुराने लोग विचार-प्रधान थे। हम व्यक्ति-प्रधान बन गये हैं। व्यक्ति की पूजा होती रहती है, पर विचार पीछे रह जाते हैं। इसीलिए गांधीजी कहते हैं कि गांधी-जयन्ती नहीं चरखा-जयन्ती मानकर जो कुछ भी करना है, करें।

गांधीजी ने ऐसा क्यों कहा ? यों चरखा दिखने में एक छोटी-सी चीज है, पर उसके पीछे विचार क्रान्तिकारी है। आज संसार में जो चल रहा है, उसे बदलने की बात उसमें है। इसीको क्रान्ति कहते हैं। मैं चेतन हूं। युग अचेतन है। इसलिए अपने युग का निर्माण मैं करूंगा। अपने आस-पास का वातावरण मैं स्वयं निर्माण करूंगा। यह विचार चरखा हमें सिखलाता है। लोग मुझसे पूछते हैं, "क्या आज की इस बीसवीं सदी में आपका चरखा चलेगा ?" मैं उनसे कहता हूं, "आजतक तो चला, आज एक [illegible]

चल रहा है, कल दो अक्तूबर को चलेगा और जबतक मैं चाहूगा चलता रहेगा।" लोग मुझसे पूछते है, "हवाई जहाजो के इस युग मे आपकी तुनाई-पुनाई कैसे चल पायगी ?" मै कहता हू,"बहुत अच्छी चलेगी। हवाई जहाज मे बैठकर मै शान से पुनाई करूगा व चरखा चलाऊगा, क्योकि अपनी सृष्टि का मालिक मैं हू। इसीको मनुष्यता कहते है। मै ईश्वर की प्रतिमा हू, उस मालिक का मैं पुत्र हू। इस जड ससार को मैं अपना मालिक नही मानता। मेरे हाथो मे मिट्टी है। इसमे मैं सोने का निर्माण करूगा।"

इतिहास मे युग को नाम देने की प्रथा है। 'विक्टोरियन पीरियड' इत्यादि देखकर मुझे हँसी आती है। मैं कहता हू, "यह मेरा पीरियड है, मेरा युग है।" लोग कहते है, "दुनिया का केन्द्र इग्लैड है।" मैं कहता हू, "धाम नदी के किनारे पर बसा हुआ पवनार उसका केन्द्र है, क्योकि मै जब अपने टीले पर खडा होकर देखता हू, तब चारो ओर की दुनिया मुझे दिखाई देती है।" कुछ लोग इस विचार-सरणी को 'यत्र बनाम चरखा' समझते है। परतु मेरे विचार से वह 'यत्र बनाम चैतन्य' है। दैववादी और पगु लोगो के रूढिवाद के यानी जडवाद के विरुद्ध यह चैतन्यवाद है। मै जडवादी नही हू। यत्र जड वस्तु है। जिन यत्रो की आवश्यकता मैं महसूस करूगा, उन्हे रखूगा। जो अनावश्यक है, उन्हे नही रखूगा।

बेचारे यत्र स्वय कुछ भी नही कर सकते। मैं उन्हे चलाऊगा तो वे चलेगे। हिन्दुस्तान मे ४० करोड लोग रहते है। इतना विशाल देश अपना वातावरण खुद नही बनायगा तो दूसरा कौन बनायगा ? मगल के आस-पास मगल का व बुध के आस-पास बुध का वातावरण रहता है। फिर हमारे आस-पास हमारा वातावरण क्यो न रहे ?

हम इतिहास को देखते है तो पता चलता हे कि इतिहास की एक माग होती है। उसे पूरी करने के लिए किसी पुरुष का जन्म होता है। उसीको हम युग-पुरुष कहते है। भारत के इतिहास की और आज तो सारे ससार की माग यह है कि चरखा जिस सस्कृति का प्रतीक है, वही सस्कृति हमारी है

अगरेजो के अधीन जब भारत हुआ तब जो बात किसी भी देश मे नही

हुई, यह इस विशाल देश मे हो गई। क्या हुआ ? इतने बडे राष्ट्र के हाथो मे सारे हथियार छीन लिये गए। यह बात पुराने जमाने मे किसीको भी नही सूझी थी। यही नही, उन्हे तो लगता था कि लोगो को इस प्रकार नि शस्त्र कर देना खतरनाक भी है। परतु अगरेजो को लगा कि यदि यहा राज करना है तो जनता के हथियार छीन लेने चाहिए। शस्त्रों के छिनते ही देश मे एक बात की आवश्यकता उत्पन्न हो गई। भारत के लोगो ने सोचा कि या तो अनन्त काल तक गुलाम बनकर पडे रहना है या किसी ऐसी शक्ति का आविष्कार करना चाहिए, जो नि शस्त्रीकरण का मुकाबला कर सके। भारत मे यह आवश्यकता पैदा हो गई। इसलिए यहा एक ऐसा युग-पुरुष हुआ, जिसने इस देश को एक नया दर्शन दिया। दर्शन यह कि हिसक शस्त्रो के बगैर भी अन्याय का प्रतिकार किया जा सकता है।

यह तो एक दैवयोग है कि वह पुरुष गाधी हुआ। गाधी न होता तो और कोई आता, क्योंकि वह इस युग की माग थी। इतने सारे लोग हमेशा के लिए गुलाम रहे, यह तो असभव था। इस समय मुझे गीता का वचन याद आ रहा है। भगवान् ने अर्जुन से कहा था कि मैं तो इन्हे कभीका मार चुका हू। तू तो केवल निमित्त बन जा। गाधीजी भी इस प्रकार केवल निमित्त है। यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी।

इसलिए उत्तम बात तो यह है कि हम गाधी को भूल जाय। उनके विचार समझ ले। व्यक्ति की पूजा करते रहेगे तो उनके विचारो को हम भूल जायगे। एक सज्जन ने गाधी-जयन्ती के दिन व्याख्यान देने के लिए मुझे निमत्रण भेजते हुए लिखा था कि वे ७८ बैलो की गाडी मे गाधीजी के चित्र का जलूस भी निकालनेवाले है। इस प्रकार यदि ७८ का नियम शुरू हो जायगा तो हम विचार को भूल जायगे। ७८ के बाद ७९ और ७९ के बाद ८० आयगा। इस प्रकार शरीर का विचार ही प्रधान बन जायगा। आत्मा के ७८ वर्ष नही होते। वे तो शरीर के ही होते है। इसलिए फिर केवल शारीरिक दृष्टि रह जायगी।

गाधीजी ने हमे मरना दिया। इस मरने का अर्थ यह है कि नि शस्त्र

जनता प्रतिकार के लिए खडी हो रही है। हमारी भाति दूसरे लोग भी ससार मे नि शस्त्र किये जा रहे है। अब केवल चार राष्ट्रो के हाथो मे शस्त्र रहनेवाले है। शेष सारे राष्ट्र नि शस्त्र ही हो जायगे। इसीको ये लोग नव-रचना अर्थात् 'न्यू आर्डर कहते' हे। पुरानी रचना जा रही है और उसके स्थान पर नई रचना आ रही है। परन्तु वह पुरानी व्यवस्था के सारे दोष उत्तराधिकार मे लेकर आई है। इसलिए जो सवाल हमारे सामने आया था, वही आज सारे ससार के सामने है। चरखा कहता है कि इन सबके बीच से मार्ग ढूढनेवाली एक चीज ससार मे है। चरखा चलाते-चलाते हमारे दिल मे यह चिंतन चलना चाहिए कि ससार की बडी-से-बडी ताकत का मुकाबला करनेवाली एक शक्ति हमारे पास है, जिसके बल पर एक-छोटा-सा बच्चा भी उस बडी शक्ति का प्रतिकार कर सकता है। और चूकि ससार को आज इस विचार की जरूरत है तो इसका प्रत्यक्ष प्रयोग भारत नही तो दूसरा कोई देश करेगा।

लोग कहते है कि रोज नये शस्त्रो का आविष्कार हो रहा है और अब तो एटमबम भी निकल चुका है। मै उनसे कहता हू आपके पास एटम-बम है तो मेरे पास आतमबम है। परन्तु एटमबम के लिए जितना परिश्रम करना पडा होगा, उससे अधिक परिश्रम आतमबम के लिए करना होगा। हमे जनता को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि हममे से एक व्यक्ति भी इस एटमबम का मुकाबला कर सके।

गाधीजी ने इसीलिए रचनात्मक कार्यक्रम शुरू किया है। लोग कहते है कि क्रान्ति से रचनात्मक कार्य का क्या सबध है ? मै कहता हू कि क्रान्ति का अर्थ नवरचना ही तो है न ? रचनात्मक कार्यक्रम भी नवरचना का ही तो कार्यक्रम है। आज ससार की जो स्थिति है, उसे बदलकर हमे नई व्य-वस्था कायम करनी हे। वे दूसरे को गुलाम बनाकर जीना चाहते है और हम दूसरो को आजाद बनाकर जीना चाहते है। वे दूसरो के श्रम का अन्न खाते है, हम अपने श्रम का अन्न खाना चाहते है। यदि ऐसा नही होगा तो हम भी उनके जैसे शोषक, लूटकर खानेवाले बन जायगे। मै रोज सुरगाव

जाता हूं। एक दिन एक सज्जन के घर गया। उसके घर पिंजड़े में बन्द एक तोता दिखाई दिया। उसी दिन दिल्ली में जवाहरलालजी का राज शुरू हो रहा था। मैंने कहा, "दिल्ली में जवाहरलालजी का राज शुरू हो गया है। आप भी अपने कर्तव्य का पालन करेंगे या नहीं?" उन्होंने पूछा, "बताइये क्या कर्तव्य है ? ?" तब मैंने उस तोते को मुक्त करने की बात कही। अंत में वह तोता छोड़ दिया गया। यह घटना कम महत्व की नहीं है, क्योंकि यदि हम अपने लिए स्वतन्त्रता चाहते हैं तो वह हमें दूसरों को भी देनी चाहिए।

आज संसार में जिस बड़े पैमाने पर हिंसा की तैयारी हो रही है, उसे देखकर मुझे तो निश्चय हो गया है कि हिंसा का यह राक्षस मरकर ही रहेगा। पहले छोटी-छोटी लड़ाइयां होती थीं। संभव है, उन लड़ाइयों से कुछ लाभ होता होगा। परन्तु अब तो 'टोटल वार' होता है। 'टोटल वार' यानी क्या ? टोटल वार का अर्थ यह कि यहां की सारी स्त्रियों का वहां की सारी स्त्रियों से विरोध, यहां के सब पेड़ों का वहां के सारे पेड़ों से विरोध, यहां के सारे पशुओं का वहां के सारे पशुओं से विरोध और यहां की सारी फसलों का वहां की सारी फसलों से विरोध। और हम सब मिलकर उनकी सब वस्तुओं का नाश करें। उस टोटल वार में सिविल अर्थात् असैनिक जैसी कोई चीज ही नहीं रह जाती। सबकुछ सैनिक है। साइन्स अर्थात् विज्ञान अब इतना बढ़ गया है कि हिंसा का राक्षस अब खुद ही अपनी मौत मर जानेवाला है और अहिंसा अपने-आप बढ़नेवाली है। इसलिए, जब बड़े पैमाने पर हिंसा की तैयारी होती है तो मुझे भय नहीं होता, क्योंकि मैं देखता हूं कि अब हिंसा के जाने का और मेरे प्रवेश का समय आ रहा है। दीया बुझने से पहले बड़ा होता है। इसलिए, हिंसा ने संसार से अन्तिम विदा लेने के पहले की प्रचण्ड तैयारी की है। अब अहिंसा का ही उदय होनेवाला है।

: १९ :

प्रार्थना में विवेक

एक सज्जन लिखते है :

"मै और मेरे कुछ मित्र इधर कुछ वर्षों से हर सोमवार और गुरुवार की शाम को इकट्ठे होकर प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना में पहले 'गीताई' के स्थितप्रज्ञ के लक्षणोवाले श्लोक बोलते हैं और बाद में वहां आया हुआ हर आदमी एक-एक अभंग बोलता है। अन्त में 'अहिंसा सत्य अस्तेय' आदि एकादश-व्रतो के बाद आरती करके प्रार्थना समाप्त करते हैं। हमारी यह पद्धति चालू है। बीच-बीच में कभी साप्रदायिक कहलानेवाले लोग भी आ जाते हैं। उन्हे भी अभग कहने को कहते है, परन्तु उनमें कभी कोई गवलन (गोपी गीत) गाता है, तो कोई एकनाथ का 'असा कसा देवाचा देव बाई ठकड़ा' तो कोई 'वैकुंठीची मूर्ति आली भीमा तीरी' वाला तुकाराम का अभग गाता है। हमारी दृष्टि मे गवलन मे शृगार और कामुकता-भरा वर्णन आता है, इसलिए उसे गाना ठीक नहीं है। एकनाथ के भजन में भगवान् को ठगोरा कहा है, वह भी ठीक नहीं लगता और तुकाराम के अभग मे भी 'गोकुलात चोरी केली' यानी चोर कहा गया है। इसलिए हमारी राय है कि उससे प्रार्थना की गभीरता कम होती है। इसपर सांप्रदायिक लोगो का कहना है कि क्या वे अभग हमारे बनाये हुए है ? यह बड़े-बडे सतो की रचना है, इसमे प्रकट अर्थ की अपेक्षा गूढ अर्थ भी हो सकता है। केवल वाच्यार्थ लेने से काम नहीं बनेगा। इसपर हम कहते है कि इनमें गहरा अर्थ हो तब भी सामान्य जनो की समझ में कैसे आयगा ? इसलिए अपनी प्रार्थना में हम ऐसे अभगो का पाठ न करें। इस प्रकार हममें विचार-भेद है। इसलिए हमारी मांग है कि इनका समाधान आप कर दें।"

पत्र-प्रेषक का प्रश्न सार्वजनिक उपयोग का है। इसलिए इसपर गह-राई से विचार करना जरूरी है। यह प्रश्न और भी कई जगह इसी रूप में खडा हुआ है और अनेक बार मुझे इसका विवेचन करना पडा है।

सबसे पहले हम यह एक बात याद रक्खे कि प्रार्थना मे हम जो कुछ कहते हैं, वह अपनी चित्त-शुद्धि के लिए होता है। संतो ने अलग-अलग प्रसगो पर अलग-अलग अभग लिख रखे है। उनमे से हम किन भजनो को चुने, यह हमारी उस समय की मन स्थिति पर निर्भर है। क्योकि यह प्रार्थना हमारी है, हमे अपने शब्दो मे ही करनी चाहिए। परन्तु अपनी वाणी मे इतना बल नही, इसलिए हम सतो की वाणी का उपयोग करते है, लेकिन हम जिस समय ये भजन गाते है, उतनी देर के लिए तो वे हमारी ही वाणी बन जाते है। उस समय वे उस कवि या सतो के वचन नही होते। इसलिए हमको ऐसे भजनो और पदो का ही चुनाव करना चाहिए, जो हमारे मन मे सहज ही बैठ सके। जिन पद्यो का हम चुनाव नही करते, वे बेकार है, सो बात नही। उनमे गूढ अर्थ भी हो सकता है और शायद नही भी। हमे इस विवाद मे पडने की जरूरत नही। यदि सरल अर्थवाले पद्य सुलभ हो तो हम गूढ पद्यो के चक्कर मे क्यो पडे ?

पत्र-प्रेषक के प्रश्न का उत्तर इतने मे आ जाता है। परन्तु सत्य की खोज की दृष्टि से हमे इस प्रश्न पर और गहराई से विचार करना होगा। एक तो यह कि सतो की छापवाले सभी अभगो को उनके मानना ठीक नही। तुकाराम के जीवन-काल मे ही अनेक लोग उनके नाम पर अभगो की रचना करने लग गए थे। स्वय तुकाराम ने इसका विरोध किया है। परन्तु फिर भी ऐसे कितने ही सतो के नाम पर ऐसा बहुत-सा कूडा-करकट जमा कर दिया गया है। इसलिए सुवर्ण मार्ग तो यही है कि जो बात हमारे दिल को सही लगे, उसीको ग्रहण किया जाय। जो सही न लगे, उसे नम्रतापूर्वक छोड दिया जाय, फिर वह चाहे जिसीके नाम पर हो। परन्तु इन दिनो भक्तिमार्गी कहलानेवाले लोग इतने मूढ हो गये है कि सतो के नाम पर गाया जानेवाला भजन फिर वह किसी भी प्रकार का हो, उनकी श्रद्धा का पात्र

वन जाता है। उन्हे उसका अर्थ समझने की भी जरूरत नही होती और उनकी भक्ति का आचरण से कोई सम्बन्ध नही होता। यह भक्ति नही, भक्ति की विडवना है।

परन्तु यदि यह सिद्ध हो जाय कि अमुक भजन क्षेपक नही है, स्वय उन-उन सतो द्वारा लिखे गए है, फिर भी सारे भजनो को प्रमाण-स्वरूप मान लेने की कल्पना छोड देनी चाहिए। भारत मे बीच का जो गुलामी का समय गुजरा है, उसमे साहित्यिको के दिमाग मे इतना शृगार और इतनी कामुकता भरी दिखाई देती है कि जानकार को भारत के पतन का दूसरा कारण ढूढने की जरूरत ही नही रहती। शृगार को सब रसो मे श्रेष्ठ बना दिया गया था और उसका सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विश्लेषण करने मे ही पण्डिताई की सफलता मानी गई थी। ऐसे विषयासक्त वातावरण मे अवतरित सतो को भी यदि भक्ति-रस को शृगार की भाषा मे रखने का मोह हुआ या उन्हे लगा हो कि केवल इस प्रकार ही लोगो को भक्ति की तरफ मोडा जा सकता है, तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही। आज हम अहिसावादी भी, अपनी बात लोगो की समझ मे आ जाय, इसलिए क्या 'सत्याग्रह की लडाई', 'आक्रमणकारी अहिसा', 'अहिसक सेना', 'अहिसा का तत्र', 'अहिसा का दबाव' (प्रेशर), 'अहिसा की जबरदस्ती' (कोअर्शन) वगैरा शब्दो का प्रयोग नही करते ? यही सतो ने भी किया। दोनो तरफ मोह भी एक, और परिणाम भी एक। प्रचार जल्दी, परन्तु विचार दूषित हो जाता है। इसलिए हम जो कुछ पढे या सुने, सारासार-विवेक को सही-सलामत, जाग्रत रखते हुए पढे और सुने, फिर वे सतो के भजन हो, धर्मग्रन्थ हो या सत्याग्रह-साहित्य हो।

काल-प्रवाह के साथ-साथ मनुष्य के मन का भी विकास होता रहता है। इसलिए पूर्वजो की कृति मे से केवल सारवस्तु ग्रहण कर लेनी चाहिए, असार को छोड देना चाहिए। हम उनके वशजो मे यह हिम्मत होनी चाहिए। इस हिम्मत को मैं श्रद्धा कहता हू। नचिकेता के बाप ने दुबली और मरियल गाए दान मे दी। उपनिषद् मे कहा है कि उन्हे देखकर नचिकेता के मन मे श्रद्धा जागी—'श्रद्धा आविवेश' और उसने अपने पिता से

कहा, "यह क्या दान शुरु किया है आपने ?" वही श्रद्धा हमारे अन्दर भी हो। उसके अभाव मे हमारी आज की प्रार्थना और भजन वीर्यहीन और अकिंचित्कर बन गये है। यो हमारे यहा हर गाव मे भजन हो रहे है, परन्तु उनमे से कही सामर्थ्य का निर्माण नही हो रहा है। इसका कारण यही है कि उनमे सच्ची श्रद्धा नही है।

: २० :

ज्ञानदेव का गीतार्थ

'सत्यकथा' के जनवरी अक में प्रभाकर का लिपि-सुधार-सबधी एक लेख प्रकाशित हुआ है। मुझे दिखाने के लिए कुन्दर वह अक लेकर मेरे पास आया था। मै उस मासिक को सहज रूप से उलट रहा था तो मुझे श्री फाटक का 'ज्ञानेश्वरी का गीतार्थ' लेख दिखाई दिया। उसमे 'यद् यद् विभूतिमत् सत्व' के ज्ञानदेव के भाष्य के बारे मे कुछ गलतफहमी मालूम हुई। इस सबध मे अनेक लोगो ने ऐसी ही भूल की है। इसलिए यह लेख लिख रहा हू। श्लोक इस प्रकार है

यद् यद् विभूतिमत् सत्व
श्रीमद् ऊर्जितमेव वा
तत् तदेव अवगच्छ त्व
मम तेजोश-सभवम् ॥

ज्ञानदेव के भाष्य पर विचार करने के पहले इस श्लोक का अर्थ समझ लेना चाहिए। लोकमान्य तिलक ने इसका अर्थ यो किया है—

"जो-जो वस्तु वैभव-लक्ष्मी अथवा प्रभाव से युक्त है, वह मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुई है, ऐसा समझ।"

अन्य टीकाकार भी इसी प्रकार का अर्थ करते है। परन्तु श्लोक की सूक्ष्मता इस अर्थ मे नही है। दसवे अध्याय मे विभूतियो का वर्णन है। इस वर्णन के उपसहार के रूप मे यह श्लोक है। इसलिए इसमे 'विभूतिमत्' की तुलना मे 'श्रीमत्' और 'ऊर्जित्' को रखने का प्रश्न है ही नही। जो-जो विभूतिमत् है, वे मेरे अशरूप है, यह मुख्य वाक्य है। और विभूतिमत् के दो प्रकार—श्रीमत् और ऊर्जित् उसके अन्दर—पेट मे—बताये गए है, उसी

प्रकार जिस प्रकार हम किसी बात को समझाने के लिए कोष्टक में लिख देते है। विभूति दो प्रकार की होती है

१ श्रीमत् अर्थात् वैभवयुक्त, साधन-सामग्री-सपन्न, नैतिक सद्‌गुणो से मडित। सस्कृत के 'श्री' शब्द का अर्थ इतना व्यापक है।

२ ऊर्जित अर्थात् (बाह्यवैभव न होते हुए भी) अतस्तेज से, आत्म-ज्ञान से सपन्न। इन्ही दो प्रकारो के बारे में जिसका योग अधूरा रह गया है, उसको आगे जन्म कैसे प्राप्त होता है, गीता के छठे अध्याय मे भगवान् ने यह कहा है। 'शुचि श्रीमान्' विरुद्ध 'धीमान् योगी', ऐसी वहा भाषा है। वहा विशिष्ट अर्थ है, यहा व्यापक वृत्ति है। विभूति के इन दो प्रकारो के ऐतिहासिक उदाहरण लेने हो तो अशोक और शकराचार्य के नाम लिये जा सकते है। और प्रकृति मे से दे तो तारा-मडल के साथ घूमनेवाला चन्द्र और एकाकी चमकनेवाला सूर्य का दिया जा सकता है। ज्ञानदेव ने पहली विभूति को इस प्रकार विशद किया है'

'जेथ जेथ सपत्ति आणि दया
दोन्ही वसती आलिया ठाया
ते ते जाण धनजया, अश माझे।

अर्थात्—हे धनजय, जहा-जहा सपत्ति और दया एक साथ निवास करती हैं, जान ले कि वहा मेरा अश है।

मूल श्लोक मे आये 'श्री' शब्द का स्वारस्य प्रकट करने के लिए सपत्ति और दया इन दो शब्दो की योजना है। दया शब्द अपनी तरफ से नहीं जोडा गया है, न यह 'ऊर्जित' शब्द का ही अर्थ है। छठे अध्याय के अनुसार यहा 'श्री' शब्द को समझाया गया है। तब 'ऊर्जित' शब्द को ज्ञानदेव महा-राज ने किस प्रकार समझाया है? क्योकि इस श्लोक पर यही एक ओवी (दोहा) है।

यहा बडी दुर्भाग्यपूर्ण भूल हो गई है। इससे कारण ज्ञानदेव ने 'ऊर्जित' शब्द का जो विस्तृत विवेचन किया है, वह लुप्तप्राय हो गया है। छापने-वालो ने इस सारे विवेचन को भूल से अगले श्लोक मे जोड दिया है,

जिसके साथ इसका कोई सबध नही है । परन्तु आश्चर्य है कि वह किसीको अखरता नही । वह विवरण इस प्रकार है

> अथवा एकलें एक बिब गगनीं । परी प्रभा फाके त्रिभुवनीं
> तेवीं भज एकाची सकल जनीं । आज्ञा पालिजे ।।
> तयातें एकलें झणो म्हण । तो निर्धन या भाषा नेण
> काय कामधेनूसवें सर्ज साहान । चालत असे ।।
> तियतें जें जेधवा जो मागे । ते ते एकसरें चि प्रसवो लागे
> तेवी विश्व-बिभव तया आगें । होऊनि असती ।।
> तयातें ओलखावया हे चि सज्ञा । जें जगें नमस्कारिजे आज्ञा ।
> ऐसे आहाति ते जाग प्राज्ञा । अवतार माझे ।।

—हे प्राज्ञ अर्जुन, सुन ! मैं तुझे अपने अवतारो की पहचान बताऊ। सूर्य गगनमडल मे अकेला है, परन्तु उसका प्रकाश तीनो लोको को आलोकित करता है। समस्त लोक इसी प्रकार मुझ अकेले की आज्ञा का पालन करते है। उसे अकेला कहना भूल है। उसे क्या कोई साधनहीन, निर्धन कह सकता है ? क्या कामधेनु अपने साथ साधन-सामग्री के गाडे लादकर चलती है ? उससे जब कभी जहा कही कोई चीज मागता है, वह अपने प्रताप से तत्काल वही दे देती है। इस प्रकार जिसके अन्दर सारे विश्व का वैभव निवास करता है, उसे मेरा अवतार जानो। उसकी सीधी-सादी और थोडे मे यही पहचान है कि सारा ससार उसकी आज्ञा मानने के लिए हाथ बाधे सदा खडा प्रतीक्षा करता रहता है।

विभूतियो मे तर-तम-भाव यानी विवेक ही करना हो तो कहना होगा कि 'श्रीमत्' की अपेक्षा 'ऊर्जित्' विभूति श्रेष्ठ है। यह सूचित करने के लिए पहली विभूति के बारे मे "धनजय, उन्हे अश जानो" और दूसरी के बारे मे "प्राज्ञ अर्जुन, उन्हे मेरे अवतार जानो" इस भाषा का प्रयोग ज्ञानदेव ने किया है। 'अश' और 'अवतार' यो तो एक ही है, परतु अवतार शब्द स्पष्ट ही अधिक योग्यता सूचित करता है। इसी प्रकार अर्जुन को एक स्थान पर केवल 'धनजय' और दूसरे स्थान पर 'प्राज्ञ' कहकर ज्ञानदेव ने ध्वनि मे

बढोतरी कर दी है।

परन्तु इस प्रकार की विभूतियों में तर-तम के भेद को सूचित करना इस अध्याय का हेतु नहीं है। इसके विपरीत वह तो यह बताना चाहता है कि यह संपूर्ण विश्व परमात्ममय है और इसके साधन के रूप में विभूति-चिंतन करना होता है। इसी बात को ज्ञानदेव ने 'अथवा बहुनैतेन' श्लोक के भाष्य में और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि विभूतियों में सामान्य और विशेष का भेद करना बड़ा दोष है। परन्तु 'ऊर्जित' शब्द के संबंध में विवेचन का प्रारंभ करते हुए ज्ञानदेव ने 'अथवा' शब्द का प्रयोग किया है। और 'अथवा बहुनैतेन' श्लोक में भी 'अथवा' शब्द है। इस साम्य के कारण यह व्याख्यान इसी श्लोक के नीचे जोड़ा गया। यह भूल वारकरियों[1] द्वारा प्रकाशित ज्ञानेश्वरी में है। इसका अर्थ यह हुआ कि यह भूल उनकी मूल-पोथी में भी होगी। वहां 'अथवा बहुनैतेन' से संबंधित भाष्य का कुछ अंश 'यद् यद् विभूतिमत्' श्लोक के नीचे लगा दिया गया है।

सारांश यह कि 'यद् यद् विभूतिमत् सत्त्व' श्लोक का बहुत-से टीकाकारों ने जैसा स्थूल अर्थ किया है, वैसा ज्ञानदेव महाराज ने नहीं किया। उनका अर्थ अत्यन्त उद्देश्यपूर्ण और वह भी बहुत ही स्पष्टतापूर्वक रखा गया है।

---

१ एक भजन-संप्रदाय के लोग, जो हर साल दो या अनेक बार पंढरपुर

: २१ :

जीवन-समस्या का हल

प्राणी का जीवन वासनाओ का एक खेल है। वासना अर्थात् जीव का जीवत्व। अन्य प्राणियो की तरह मनुष्य के जीवन मे भी यह खेल चल रहा है। तटस्थ भाव से देखे तो यह खेल मालूम होगा, परन्तु जो उसमे उलझा हुआ है, वह तो उसीके कारण बेजार है। इसलिए अनुभवी पुरुषो ने मनुष्य का अतिम ध्येय वासनाओ से मुक्ति तय किया है। परन्तु वासना जैसे रुलाती है, उसी प्रकार हँसाती भी है। रुलानेवाली वासना बुरी लगती है और हँसानेवाली अच्छी लगती है। परन्तु उसकी भी एक मर्यादा होती है। इसीलिए तो जब बच्चे बहुत हँसते हैं तब मा उनको समझाती है कि 'बहुत हँसो मत, नही तो रोओगे।'

'दुखदायी वासना नही चाहिए, सुख देनेवाली हो, इसे 'वासना-विवेक' कहेगे। सुखदायी वासना भी जरूरत से अधिक न हो, इसे 'वासना-नियमन' कह सकते है। और सभी वासनाओ से मुक्ति पाने को 'वासना-निरसन कहेगे।

वासना-निरसन बडी दूर की और बहुत ही ऊची बात है। इस जीवन मे हम शायद उसमे कभी सफलता नही पा सकेगे। परन्तु इस जीवन मे भी वह निरुपयोगी चीज नही है। दिशा-दर्शक ध्रुव के समान वह उपयोगी है। ध्रुव तक हम आज या कभी भी पहुच न सके, परन्तु वही हमारे जहाज को सलामत रखता है।

इस ध्रुव तारे की दिशा मे प्रतिदिन वासना-विवेक और वासना-नियमन करते रहना ही शिक्षण का कार्य है। इसकी बाहरी योजना समाज-शास्त्र करता है और भीतर का काम धर्म करता है। आजकल कुछ लोग धर्म के

नाम से ऊँचे-से दिखाई देते हैं। तब उनका सारा आधार स्वभावतः समाज-शास्त्र बन जाता है। इस कारण बेचारा समाज-शास्त्र बड़ा तंग हो जाता है और तंग समाज-शास्त्र तापदायक होता है। उसमें बगावत की भावना पैदा होती है। उसे दबाने के लिए राज्य-सत्ता खड़ी होती है। धर्म गया कि राज्य आया। फिर वह पूँजीपतियों का साम्राज्य हो, किसान और मजदूरों का अधिराज्य हो, या सिरों की गिनती करनेवाला लोकतंत्र हो।

खराब वासना को छोड़ें और अच्छी को पकड़ें। उसे भी अपरिमित रूप से न बढ़ने दें। उसे काबू में रखें। फिर उसका क्या करें? उसकी पूर्ति करें। इसे हम 'वासना-समाधान' कहेंगे? यह कैसे सधेगा? मानव के सामने यह भी एक पेचीदा सवाल है। अनेकविध वासनाओं के साथ मनुष्य में जाड्य-वासना भी एक होती है। वह वासनाओं की प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया ही होती है। भली-बुरी, सीमित-असीमित सब वासनाएं एक तरफ और यह जाड्य-वासना एक तरफ, इस तरह दोनों के बीच खींचतान चलती रहती है। भीतर से मनुष्य चाहता है कि वासनाओं का निरसन हो, परन्तु देह-भावना से जबतक मनुष्य अलग नहीं हो जाता, यह होना संभव नहीं। वह तो परम पुरुषार्थ का काम है। उसे करने का दिखावा जाड्य-वासना करती है। वासना-निरसन का एक और सुलभ मार्ग प्रकृति ने प्रस्तुत कर रखा है। वह है शरीरश्रम। इसे टालकर वासना-पूर्ति करने की राय, इस युक्ति के साथ भी जाड्य-वासना करती रहती है। फिर वासनाओं को परिमित रखने का लक्ष्य भी समाप्त हो जाता है। वर्तमान में भविष्य की तैयारी करने की जगह, यह वृत्ति पैदा होती है और उसमें से सब अनर्थकारी अर्थशास्त्र का निर्माण होता है। वेदों की सीख के अनुसार 'अद्या अद्या, श्वः श्वः' अर्थात् आज ही आज और कल ही कल, यही इस समस्या का हल है। इसे हम वासना-नियमन कहेंगे।

यह वासना-नियमन कुछ विचारवान पुरुष स्व-स्वभाव से सदा ही करते रहते हैं और करोड़ों मजबूरी से कर रहे हैं। परन्तु सबको वह सन्तोष के साथ सधना चाहिए। इसका एकमात्र उपाय यही हो सकता है कि सभी

शरीर-श्रम-निष्ठा के साथ अपने मे सबका ध्यान रखने की वृत्ति पैदा करे। इसको गीता आत्मौपम्य या साम्ययोग कहती है। यही मानव-जीवन की पहेली का हल है, क्योंकि इसमे आज की वासना का समाधान और अन्तिम वासना-निरसन दोनो की गुंजाइश है।

: २२ :

वाणी का सदुपयोग

वाणी ईश्वर द्वारा मनुष्य को दी गई एक बडी देन है। वह मनुष्य के चिंतन का फलित है और उसका साधन भी। चिंतन के बगैर वाणी नही और वाणी के बगैर चिंतन नही और दोनो के बगैर मनुष्य नही।

मनुष्य के जीवन का समाधान वाणी के सयम और उसके सदुपयोग पर निर्भर है। मनुष्य के सारे चिंतन-शास्त्र वाणी पर आधारित है। दर्शनो का सारा प्रयास विचारो को वाणी मे ठीक से पेश करने के लिए रहा है। वाणी विचार का शरीर ही है। कोई खास विचार किसी खास शब्द मे ही समाता है। इसलिए गभीर चिंतन करनेवाले निश्चित वाणी की खोज करते रहते है।

पतंजलि के बारे मे कहते है कि उसने चित्त-शुद्धि के लिए योग-सूत्र लिखे, शरीर-शुद्धि के लिए वैद्यक लिखा और वाक्-शुद्धि के लिए व्याकरण-महाभाष्य लिखा। ये तीनो चीजे लिखनेवाला पतंजलि एक ही था या अलग-अलग इस ऐतिहासिक प्रश्न को हम अभी छोड दे। परन्तु महत्व की बात यह है कि व्याकरण का उद्देश्य वाणी की शुद्धि करना माना गया है।

भक्ति-मार्ग की मुख्य सिखावन है कि वाणी से हरिनाम लेते रहना चाहिए। शरीर ससार मे काम भले ही करता रहे, किन्तु वाणी मे विकार न हो। वाणी का मन पर गहरा सस्कार पडता रहता है। कोई अगर सुन्दर भजन सुनकर सो जाय तो सवेरे उठते ही बराबर वही अपने-आप याद आ जाता है, इतना उसका नाद नीद मे भी मन मे गूंजता रहता है। तुलसी-दासजी ने कहा है

राम नाम मणि दीप धरु जीह देहरी द्वार,
तुलसी भीतर बाहरहुं जो चाहस उजियार।

अन्तर का आत्मा और बाहर का जगत् इन दोनो के मध्य मानो यह वाणी देहरी है। अन्दर और बाहर दोनो ओर अगर तुझे प्रकाश चाहिए तो वाणी की इस देहरी पर रामनाम का बिना तेल-बाती का मणि-दीप रख दे।

धार्मिक पुरुषो ने सबसे पहला आदेश 'सत्य वद' का दिया है। इसका खुलासा करते हुए मनु ने कहा है कि सारे व्यवहार वाणी पर अवलंबित हैं। इसलिए जिसने इस वाणी को ही चुरा लिया, उसने सब प्रकार की चोरी एक साथ की। कानून भी चाहता है कि 'सत्य, पूर्ण सत्य और केवल सत्य' ही कहो।

वाणी से मित्रता भी की जा सकती है, और वैर भी। वाणी का वैर जितना टिकता है उतना शस्त्रो का भी नही टिकता। इसलिए सारे विश्व से मैत्री की इच्छा रखनेवाले विश्वामित्र की प्रार्थना है—"अमृतं मे आसन्" मेरी वाणी मे अमृत हो। परन्तु लगनवाले व्यक्ति कटु बोलते है, ऐसा आज-कल का अनुभव है। परन्तु वास्तव मे उतावले लोग कटु बोलते है। लगन-वाले व्यक्ति को जब अक्ल नही होती तब वह उतावला हो जाता है और फिर कटु बोलने लगता है। अक्ल आ जाती है तो वह मित और मधुर बोलता है और काम मे लग जाता है।

मधुरता सत्य का अनुपान है और मितता उसका पथ्य है। जिसे हम सम्यक् वाणी कहते है वह सत्य, मित और मधुर होती है और वही परिणाम-कारक भी होती है। समाज का हित किस बात मे है, यह समझना कभी कठिन हो सकता है, परन्तु सम्यक् वाणी से ही वह सधेगा यह किसी भी आदमी के लिए समझना कठिन नही होना चाहिए।

परन्तु यही आज भारी हो रहा है। समाज-हित के नाम पर कार्य-कर्ताओ की वाणी दूषित हो गई है, अर्थात् मन ही दूषित हो गया है। फिर कृति कैसे भूषित हो सकती है?

आज लेखन व भाषण के साधन सुलभतम हो गये है। परन्तु शायद

इसी कारण सम्य वाणी दुर्लभ हो गई है। सम्य वाणी को खोकर सुलभ साधनो की प्राप्ति करना यानी कवि की भाषा मे नेत्र बेचकर चित्र खरीदने जैसा है। मानव की महिमा केवल सुलभतम साधनो को सपादन करने मे ही नही, अपितु उनको प्राप्त करके उनका कुशलतम उपयोग करने मे है।

: २३ :

सत्य और सौंदर्य

रवीन्द्रनाथ प्रतिभावान कवि और नये विचारो के प्रवर्तक के नाम मे विश्वविख्यात हैं। ऐसे व्यक्ति के प्रत्येक शब्द की ओर लोगो का ध्यान जाना स्वाभाविक है। पिछले दिनो[१] इटली से लौटने के बाद उन्होने लोगो के सामने अपना इटली-सबधी अनुभव रखा था। उसमे सौंदर्य-रसिक कवि ने अपनी दृष्टि से, इटली के तानाशाह मुसोलिनी के सबध मे अनुकूल राय प्रकट की थी। उसपर समाचार-पत्रो मे टीका की गई और रविबाबू ने उसका खुलासा दिया है। उसमे उन्होने कहा है कि मेरे कथन से यदि यह मान लिया जाय कि मुझे मुसोलिनी की कल्पना और कार्य-प्रणाली पसन्द है, तो वह मेरे सबध मे गलतफहमी पैदा कर लेना है। कला-रसिक की दृष्टि से मुसोलिनी के व्यक्तित्व का मुझपर अच्छा प्रभाव पडा है। किन्तु उससे उसके आदोलन के सबध मे मेरे नैतिक निर्णय का अनुमान नही लगाया जा सकता। नैतिक निर्णय के लिए और भी अधिक निरीक्षण करना होगा। वह मैं नही कर सका। इसलिए नैतिक दृष्टि से उसके सबध मे कहने के लिए मेरे पास कुछ नही है। गलतफहमी दूर करने के लिए इतना स्पष्टीकरण पर्याप्त है।

इस स्पष्टीकरण मे नैतिक सत्य और सौदर्य के बीच जो भेद किया गया है, हमे केवल उसीपर विचार करना है। रविबाबू की दृष्टि यानी सौदर्य-प्रेमी कला-रसिक कवि की दृष्टि। उनकी राय मानी जाती है कि जो सुन्दर है, उसे सत्य होना ही चाहिए और वह है भी। किन्तु यह पूर्ण दृष्टि का कथन हुआ। सत्य और सौदर्य के बीच विरोध नही हो सकता। यह सिद्धान्त बिलकुल

[१] सन् १९२६ में

सत्य है। परन्तु इतना अद्वैत जबतक हमारी आंखों में समा नहीं जाता तब-तक सौंदर्य की कसौटी पर विश्वास रखने से काम नहीं होगा। अपूर्ण अवस्था में सौंदर्य की कसौटी धोखेभरी है। इसलिए साधक को एक तो यह नियम बनाना चाहिए कि सत्य और सौंदर्य के बीच द्वैत भाव को स्वीकार किया जाय, और जितना सत्य हो उतना ही मान्य किया जाय, भले ही वह सुन्दर न भी हो। दूसरे, यदि अद्वैत मानना हो तो वह इस प्रकार मानना चाहिए कि जो सत्य है, उसे सुन्दर होना ही चाहिए, चाहे वह सुन्दर न भी दिखता हो। जो सुन्दर है वही सत्य है, इस प्रकार का अद्वैत न माना जाय। जो रुचिकर है, वही हितकर है, यह शुद्ध जबान का अद्वैत-सूत्र है और अशुद्ध जबान का द्वैत सूत्र यह है कि "रुचिकर अलग है और हितकर अलग। किन्तु रुचिकर से हितकर श्रेष्ठ है।" अशुद्ध जबान का भी अद्वैत-सूत्र होता है। किन्तु वह शुद्ध जबान के अद्वैत-सूत्र से उलटा है, यानी, "हितकर वही रुचिकर है।" रविबाबू के स्पष्टीकरण से साधकों को इस तरह विवेक करना सीखना चाहिए। रविबाबू सौंदर्योपासक है, तब भी साधक का विवेक उन्होंने नहीं छोड़ा है।

: २४ :

समग्रता की सुन्दरता

मुझे जब बताया गया कि इस विद्यालय का उद्घाटन[1] मुझे करना है तो उस निमत्रण को स्वीकार करते हुए मुझे कुछ सकोच हुआ, क्योकि उद्घाटन-समारंभ एक प्रकार से केवल समारभ ही माना जाता है। उद्घाटन करनेवाले पर उसकी कोई जिम्मेदारी नही रहती, परन्तु मेरी ऐसी स्थिति नही है। मै इस विद्यालय का उद्घाटन करू, इसका अर्थ यह है कि इसकी जिम्मेदारी उठाने में भी मै हाथ बटाऊ। यह भार ऐसा नही, जिसे प्रेमपूर्वक स्वीकार करने से मै इन्कार कर सकू। इसलिए मैं यहा आ ही गया।

परन्तु मेरे सकोच का एक और भी कारण यह है कि मै दक्षिणात्य हू। दक्षिणात्यो के बारे में एक प्रसिद्ध कहावत है कि वे आरभशूर होते है। परन्तु मैंने इस कहावत को मिथ्या साबित करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। बुद्धि के लक्षणो के सम्बन्ध मे हमारे पूर्वजो ने कहा है

> अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धि-लक्षणम्।
> आरब्धस्यान्त-गमनं द्वितीयं बुद्धि-लक्षणम्॥

अर्थात्—कोई कार्य आरम्भ ही न करे यह बुद्धि का पहला लक्षण है; लेकिन अगर कार्य आरम्भ कर दे तो उसे अत तक ही पहुचाये, यह दूसरा लक्षण है।

परन्तु इस कार्य का आरभ करके हमने पहले लक्षण को तो तोड दिया है। अब दूसरे लक्षण का तो पालन करके दिखा दे। काम शुरू कर दिया है। अब इसे किसी भी तरह पूरा करना ही चाहिए।

[1] समग्र-ग्राम-सेवा-विद्यालय का उद्घाटन (२-१०-१९४५)

अभी तक जितना भी काम हुआ, उससे हमे दृष्टि मिली है। दृष्टि बडी कठोर देवता है। वह पहले मे दर्शन नही देती। काम करते-करते उसका दर्शन होता है। जिन्होंने पर्वतो पर चढने का प्रयत्न किया है, वे जानते हैं कि जैसे-जैसे ऊपर चढते जाते हैं, वैसे-वैसे दृष्टि व्यापक होती जाती है। जैसे-जैसे पांव ऊचे पर पहुचते जाते है, वैसे-वैसे दृष्टि विशाल होती जाती है। यह उसकी विशेषता है।

इस विद्यालय को 'समग्र ग्राम सेवा विद्यालय' कहा जाता है। समग्रता मे सौन्दर्य है। किसी सुन्दर बालक के एक-एक अवयव को देखेंगे तो उसमे सौन्दर्य दिखाई नही देगा। उदाहरणार्थ, यदि हम केवल उसकी नाक ही देखें तो नथनो मे हमे गुफा की भयकरता दिखाई देगी। परन्तु सम्पूर्ण बालक सुन्दर ही दीखेगा। गीता मे भगवान् ने भी समग्र दर्शन की सिफारिश की है। थोडे ज्ञान से हम निर्भय नही हो सकते। इसलिए केवल खादी के ज्ञान से काम नही होगा। जीवन की अन्य सब बातो पर भी ध्यान देना होगा।

परन्तु इस समग्र दर्शन मे भी एक खतरा है। हम जिसे समग्र कहते है, वह एक निर्गुण जैसी चीज बन जाती है। यह मैं अपने अनुभव से कह रहा हूं। दस-बारह वर्ष पहले 'समग्र ग्राम-सेवा' की दृष्टि मे ही कार्यकर्ताओं को मैंने गावो मे काम करने के लिए भेजा था। वे पूछने लगे—हमे वहा क्या करना चाहिए? मैं क्या उत्तर देता? मैंने कहा घूमते रहिये।

कलि शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापर ।
उत्तिष्ठन् त्रेता भवति, कृत संपद्यते चरन् ॥

इसलिए श्रुति कहती है कि चलते रहो, घूमते रहो। केवल घूमते ही रहने मे सत्य का दर्शन होगा। तब वे लोग घूमने लगे।

कुछ महीने इस तरह घूमते रहे। घूमने का लाभ भी स्पष्ट दीखने लगा। चेहरे पर तेज चमकने लगा। सत्य युग का परिणाम दीखने लगा। परन्तु यह भी प्रकट दीखने लगा कि केवल समग्रता के इस प्रकार के प्रयोग से ही काम नही चलेगा। हमारे पूर्वजो ने कहा कि 'एक साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।' कुछ दिन कताई, कुछ दिन तेलघानी और कुछ दिन नई तालीम।

इस प्रकार काम किया जायगा तो कोई सिलसिला न बनेगा, कुछ भी हाथ न आयगा। सस्कृत मे आकाश को शून्य कहते है। जो पूर्णरूप से व्यापक बनने का प्रयत्न करेगा वह शून्य बन जायगा। इसलिए एक-एक विषय का शिक्षण पूरा करना चाहिए।

और भी एक बात है। श्री नरहरिभाई ने अपने भाषण मे कहा कि आपको यहा केवल दृष्टि मिलेगी। फिर आप जब स्वत काम करने लगेगे, तब अधिक अनुभव होने लगेगा। यह ठीक ही है। परन्तु यह दृष्टि भी आपको तभी प्राप्त होगी जब इस विद्यालय मे आप जो कुछ करेगे, वह जिनकी सेवा आपको करनी है, उनसे एकरूप होकर करेगे, अन्यथा जल के बाहर रहकर तैरना सीखने जैसी बात हो जायगी। तैरने का सम्पूर्ण ज्ञान-कोश पढ जाने पर भी गगा मे डूबने की नौबत आ जायगी। इसलिए नई तालीम के हमारे सिद्धान्त के अनुसार हमे काम करते-करते ही सीखना चाहिए। जिस प्रकार प्रैक्टिसिग स्कूल के वगैर ट्रेनिग कालेज नहीं चल सकता, उसी प्रकार प्रतिदिन ग्रामसेवा का कुछ-न-कुछ काम यदि आप नही करेंगे, तो समग्र ग्रामसेवा का शिक्षण नही ले सकेंगे।

तीसरी बात एक छोटी-सी सूचना के रूप मे मैं आपसे कहना चाहता हू। वह यह कि आज आप महाराष्ट्र में आकर रह रहे हैं। यहा की भाषा मराठी है। इसलिए आपको मराठी भाषा भी सीख लेनी चाहिए। उर्दू तो आप सीखेंगे ही, क्योंकि उसके बारे मे बापूजी ने बहुत-कुछ कहा है। परन्तु आप लोग मराठी नही सीख रहे है। यहापर अनेक अखिल भारतीय सस्थाए है। तामिलनाड और केरल के लोग भी आते रहते हैं। परन्तु यहा के लोगो की भाषा यदि आप नही सीखेंगे तो अग्रेजो के समान सेवा के नाम पर आप केवल मेवा ही खायेंगे, सेवा तो कुछ होगी नही। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम आस-पास की भाषा भी सीखे।

: २५ :

अचित्तं ब्रह्म

आपकी छपी हुई-सी रिपोर्ट मिली। छपी हुई-सी अर्थात् छापे-जैसी सुन्दर और साचे मे ढली-सी एक छाप की। आप निरलस दौरे करते ही जा रहे है, यह देखकर किसी भी स्थाणु को आपसे ईर्ष्या होगी। अपनी रिपोर्ट के गावो के नाम आपको सध्या के समान कण्ठस्थ ही हो गये होगे ? आपने लिखा है कि जनता मे काफी सम्पर्क हुआ। परतु मुख्य प्रश्न तो यह है कि क्या जनता के हृदय मे स्थान मिला ?

ऐसा प्रश्न पूछना तो सरल है, लेकिन उसका जवाब 'हा' मे देना कठिन है। तेलुगु मे एक कहावत है कि "पूछनेवाला सदा सीनाजोर रहता है। जवाब देनेवाला सदा कमजोर।" क्योकि प्रश्न पूछनेवाले को शब्द ही पर्याप्त हो जाते है, जबकि जवाब देनेवाले को काम जरूरी होता है।

अहिंसा का प्रयोग करनेवाले यदि अपने मन का एक चौखटा बना लेगे और उसमे जरा भी भिन्न विचार-प्रवाह मे फसे हुए तरुण कार्यकर्ताओं को टालेंगे या उनकी उपेक्षा करेंगे तो काम नहीं चलेगा। 'ब्रह्म तं परादात् यो अन्यत्र आत्मनः ब्रह्म वेद।" जो ब्रह्म को अपने से अलग मानेगा उसे ब्रह्म अपने से अलग कर देता है। इसलिए अहिंसक पुरुष सबको अपने हृदय में स्थान देने का शक्ति-भर प्रयत्न करता है। हिंसक प्रतिपक्षी से लड़ते समय भी वह उसे अपने पेट मे समा लेने का विचार रखता है। फिर दूसरो का तो प्रश्न ही नही उठता।

वेदों मे कहा गया है—'अचित्त ब्रह्म जुजुषुः युवानः' अर्थात् तरुणो को वह ब्रह्म अच्छा लगता है, जिसका चिन्तन कभी किसीने न किया हो। जिसका चिन्तन दूसरो ने कर लिया है, वह उन्हे पसद नही होता। उन्हे

नवीन कल्पना चाहिए। ठीक भी है। उनका जन्म नया है, पुरानी कल्पना से उन्हे कैसे सतोप होगा ? परतु इस ससार मे एकदम नया क्या है ? सनातन सत्य पुराने ही होते है। परतु वे नया रूप, नया वेश धारण कर सकते हैं और वैसा होने पर वे नये वन जाते हैं। नवरूप-धारिणी शक्ति ही सनातन सत्य की सनातनता है। यही उनका स्थायित्व हैं। केवल परिभाषा बदलने की शक्ति न होने के कारण जब मै वडे-वडे विचारको को पीछे पडे देखता हू तो मुझे उनके कठमुल्लेपन पर दया आती है। साप अपनी केचुली उतारकर फिर ताजा वन जाता है। यह केंचुली छोडने की शक्ति जिस विचारक मे नही होती, वह विचारक कैसा ? वह कर्मयोगी भी कैसा ? हम उसे कर्मठ भले ही कह ले। कर्मठ काम करने मे जबरदस्त दीखता है, परतु वस्तुत वह कर्मशून्य ही होता है। 'ठ' यानी शून्य, यह तो हमारी वर्णमाला ही कहती है।

ज्ञानेश्वरी के प्रारभ मे ज्ञानदेव ने एक शिव-पार्वती-सवाद दिया है। पार्वती पूछती है, "गीता का रूप कैसा है ?" शकर कहते है, "हे माया-रूपिणी देवी, जिस प्रकार यह नही कहा जा सकता कि तेरा अमुक ही रूप है, वही बात गीता की भी है। यह गीता-तत्त्व नित्य-नूतन होता है।" सनातन सिद्धातो का स्वरूप ऐसा होना चाहिए। अहिंसा पर भी यही न्याय लागू होगा न ?

आपकी रिपोर्ट के निमित्त से मै यह सहज ही बहुत-कुछ असम्बद्ध बात लिख गया; परतु इससे आपको, उस समय मेरे दिमाग मे क्या विचार चल रहे थे, इसका दिग्दर्शन होगा।

: २६ :

लक्षचंडी का यज्ञ

एक गुजराती भाई लिखते है :

आज नोआखाली जिले में और दूसरी जगह पर निराश्रितों को सहायता की बडी जरूरत है। बहुत-सी जगहो पर तो अकाल-जैसी स्थित पैदा हो गई है और यहां बंबई में करपात्री नाम के संन्यासी तेरहसौ ब्राह्मणो से लक्षचडी यज्ञ करवा रहे है। इसका किस हद तक धर्म में समावेश होता है ? इस यज्ञ के संबध में आप अपने विचार बतायेंगे तो अच्छा होगा।

यज्ञ की कल्पना तो हर धर्म मे मौजूद है। प्राचीन काल मे यज्ञ का संबध अग्नि से जोड दिया गया था। मनुष्य को जब अग्नि बनाने की युक्ति मालूम हुई तो उसके आनद की सीमा न रही। सूर्य आदि देवता तो प्रकृति से प्राप्त हुए हैं, किंतु इस देवता को हमने प्राप्त किया है, इस तरह उसे धन्यता अनुभव हुई।

अग्नि की ओर वह आदरपूर्ण आध्यात्मिक दृष्टि से देखने लगा। अग्नि को उसने अन्न पकानेवाला 'गृहपति' कूडा-कचरा जलानेवाला 'पावक', शीत-निवारण करनेवाला और रोग ठीक करनेवाला 'भिषज' (वैद्य), आहार पचानेवाला 'वैश्वानर', ध्यान का देवता 'वर्मति', कर्मयोग की प्रतिमा, प्रतिज्ञा का गवाह, वैराग्य की मूर्ति, वगैरह अनेक भावों से गौरवान्वित किया। अग्नि की ज्वाला लगातार ऊपर चढती रहती है। इसलिए मनुष्य को उसमें जीवात्मा की ईश्वर को मिलने की छटपटाहट दिखाई दी। उस समय घने जंगलों को जलाकर आबाद करनेवाला अग्नि ही 'अग्रणी' बना। यह सारा अग्नि-दर्शन वेदों में देखने को मिलता है।

आज अग्नि पहले जैसा दुर्लभ नहीं है। अब [illegible]

नहीं रहा, वल्कि कही-कही तो उन्हे वढाने की आवश्यकता है। देश मे खाद्य सामग्री की कमी है। इन सब वातो को ध्यान मे रखकर पुराने जमाने की बातो का अनुकरण करते रहना वास्तव मे धर्म-हीनता का लक्षण है। किंतु वही धर्म का काम मालूम होता है, यह तामस बुद्धि है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

—जो बुद्धि अधकार से घिरी हुई है, अधर्म को धर्म मानती है और सब बाते उलटी ही देखती है, वह तामसी है।

गीता मे तामस बुद्धि का लक्षण इस प्रकार कहा है।

भारत मे आज जो धर्मवुद्धि दिखाई देती है, वह बहुत-कुछ इसी प्रकार की है। समाज का हित और चित्त की शुद्धि, ये धर्म के काम है और दोनो का अनुभव भी यही-का-यही होता है। धर्म अनुभव की वस्तु है, कल्पना की नही। धर्म का आधार शुद्ध-बुद्धि है, अन्धविश्वास नही। लाखो गरीबो की सेवा करना सच्चा लक्षचण्डी यज्ञ है, तिल, अक्षत और घी जलाना नही। वह जाने-अनजाने दभ है और इस प्रकार के दभ मे हाथ वटाना पाप है, यह हमे निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए।

• • • • •

लक्षचडी यज्ञ के सवध मे मैंने जो अभिप्राय प्रकट किया है, उसका खडन करनेवाले पत्र मुझे मिले है। उनमे बहुतो मे तो केवल दुख-ही-दुख प्रकट किया गया है और कुछमे निरी गालिया-ही-गालिया हैं। उनमे से एक पत्र मे कुछ तर्क है, इसलिए उसपर विचार करना ठीक समझता हू। उस पत्र का सक्षेप मे साराश यह है

'बम्बई में लक्षचडी यज्ञ के सवध में 'हरिजन' मे जो लेख प्रकाशित हुआ है, उसे देखकर खेद और आश्चर्य हुआ। उसपर से जान पड़ता है कि यज्ञ संस्था के रहस्य का ठीक से आकलन नहीं किया गया। उसमें जो तर्क पेश किया गया है, वह केवल भौतिक दृष्टि से है। यज्ञ-संस्था बहुत ही प्राचीन है और उसका महत्व गीता में भी बताया गया है। लेख मे कहा

गया है कि समाज का हित और चित्त की शुद्धि ये दोनों धर्म के काम हैं। दोनो का इसी लोक में अनुभव होना चाहिए। परतु शास्त्रकारो ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि वह अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करानेवाला है। अभ्युदय ऐहिक है और निःश्रेयस पारलौकिक। आर्य-संस्कृति में बताये गए सारे धर्म-कृत्य इन्हीं दो तत्वो को लेकर होते हैं। केवल ऐहिक जीवन की ओर ही दृष्टि रहे तो वह भी एकांगी होगी, यह कहे बिना रहा नहीं जाता।"

परलोक के अस्तित्व के बारे में कोई विवाद नहीं है, परन्तु देश में एक ओर अकाल हो और दूसरी ओर खाद्य पदार्थ जलाने से परलोक मिलता है, इस कल्पना के बारे में विवाद है। यह कल्पना ऐसी ही है जैसे कोई कहे कि कालेज में जाने के लिए मैट्रिक की परीक्षा में नापास होना पड़ता है। ज्ञानदेव ने अपनी निरुपम वाणी में यह भाव इस प्रकार व्यक्त किया है :

> "जयाच ऐहिक धड नाहीं
> तयाचें परत्र पुससी काई ?"

—जिसका इहलोक का जीवन कतई ठीक नहीं है, उसके परलोक के जीवन का क्या पूछो ? इस लोक की जीवन-शुद्धि ही परलोक-सिद्धि का साधन है, यह बात समझनी चाहिए।

परलोक-साधना के नाम पर मूढ़ विश्वास को चलने देना इहलोक और परलोक दोनों को ही बिगाड़ना है। एक समय यज्ञ में बकरे का मारा जाना था। उससे यज्ञकर्ता और बकरा दोनों का परलोक सधता है, यह माना जाता था। बाद में यह ध्यान में आया कि इससे एक के बुद्धि-नाश और दूसरे के प्राणनाश होने के सिवा और कुछ नहीं होता। तब आटे का पशु बनाकर मारने लगे। इसका अर्थ इतना ही है कि पुरानी बात अनुचित सिद्ध हो जाने पर भी एकदम नहीं छूटती। आटे का पशु बनाने की कल्पना सात्विक बुद्धि को सहन नहीं होगी। गीता में यज्ञ का महत्त्व बताया गया है, परन्तु उसमें यज्ञ का सूक्ष्म और व्यापक अर्थ किया गया है। वेदों में भी कहा गया है कि जो दूसरे मनुष्य को पका हुआ अन्न देता है और बेघरबार निराश्रित

को सुख बसति कर देता है, वह महान् 'जीव-यज्ञ' करता और स्वर्ग की उपमा बनता है, यानी उसका जीवन ही स्वर्गमय बन जाता है। वह इहलोक मे स्वर्ग को उतारता है और मरने के बाद उसे प्राप्त करता है।

"लाखो गरीबो की सेवा का बोझ उठा लेना, यह सच्चा लक्षचडी यज्ञ है।" अपने इस वाक्य मे मैंने यही वेदार्थ रखा है।

अभ्युदय और नि श्रेयस को प्राप्त करानेवाला धर्म है। धर्म का यह लक्षण उत्तम और परिपूर्ण है। अभ्युदय यानी ऐहिक उन्नति। पत्रकार के इस अर्थ को मै स्वीकार करता हू। उसमे मुझे जोडना इतना ही है कि उस उन्नति से किसीका विरोध न हो। नि श्रेयस पारलौकिक होता है, पत्रकार के इस कथन को मैं नही मानता। वह शास्त्र के आधार पर नही है। नि श्रेयस का शास्त्रीय अर्थ परम कल्याण—मोक्ष—है। यह शब्द गीता मे भी इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। मोक्ष पारलौकिक नही होता। वह चित्त-शुद्धि के द्वारा इसी देह मे अनुभव करने का विषय है। धर्म के इस दुहरे लक्षण को ही मैने समाज का हित और चित्तशुद्धि शब्दो की सादी-सरल भाषा मे व्यक्त किया है।

तब परलोक बचा कहा ? यह बात वेद के उपर्युक्त वाक्य से ही पूछिये। मैं तो तुलसीदास के शब्दो मे कहूगा—

को जानै, को जैहे जमपुर
को सुरपुर परधाम को।
तुलसीहि बहुत भलो लागत जग,
जीवन राम गुलाम को।

: २७ :

विविध विचार

१. गरीबो के सरक्षक

गरीबो के सरक्षक गरीब ही होने चाहिए। यदि यह न हो तो कम-से-कम उनका हृदय गरीबो के दुख से दुखी और सुख से सुखी होनेवाला हो, गरीबो से सहानुभूति रखनेवाला हो। और कुछ नही तो उनमे गरीबो के प्रति प्रेम तो होना ही चाहिए।

हम एक ओर गरीबो के सरक्षक कहलाये और दूसरी ओर अपना हुजूरपन भी कायम रखें, ये दोनो बाते एक साथ नही हो सकती। द्वारकापति जब पाडवो की ओर से दुर्योधन से बातचीत करने के लिए गये थे, तो दुर्योधन ने उनसे अपने राजमहल मे ठहरने के लिए बहुत आग्रह किया था, किन्तु भगवान् ने वहा ठहरना स्वीकार नही किया। वह विदुर की झोपडी मे ठहरे थे और उसके सामने वैकुठ भी किसी गिनती मे नही था। वह विदुर के कम्बल पर सोये और उसे शेष-शैया से भी कोमल समझा। उन्होने विदुर के घर की कजी भरपेट खाई और उसके सामने अमृत को भी तुच्छ समझा। यह सब उन्होने क्यो किया? इसलिए कि वह पाडवो के प्रतिनिधि थे—उन पाडवो के, जिन्होने बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास मे अनेक कष्ट उठाये थे और अपनी देह को सुखा डाला था। उस बात को श्रीकृष्ण भूले नही थे। उन्होने माना था कि "मेरे और पाडवो के जीवन मे साम्य होना चाहिए। एक ओर तो मैं राजमहल मे मेहमानदारी खाता रहूँ और दूसरी ओर पाडवो के दुखो की बात करूँ, यह तो निरा नाटक होगा।' भगवान् का यह उदाहरण शिक्षाप्रद है। बच्चे भी भूख और

मा को महसूस होती है, उसी प्रकार जिसे प्रजा की भूख महसूस होगी वही प्रजा का सरक्षक हो सकेगा। क्या यह भी कभी हो सकता है कि बच्चा तो भूखा पडा हो और मा माल उडा रही है।

२. स्वतन्त्रता का गुलाम

पाश्चात्य नीतिशास्त्र मे एक मजेदार प्रश्न उठाया गया है—

"सम्पूर्ण नीतिमान पुरुष के लिए अनीति का आचरण करना सभव है या नही ?"

एक पक्ष का कहना है "नही ? क्योकि यदि वह अनीति का आचरण कर सकता है तो वह पूर्ण नीतिमान कैसा ? शुद्ध सोने मे मिलावट कैसी ?" दूसरे पक्ष का कहना है कि "सभव होना चाहिए। यदि 'पूर्ण' पुरुष के लिए अनीति का आचरण सभव न हो तो वह पूर्ण पुरुष नीति का 'यत्र' ही माना जायगा। जो 'नीति' का गुलाम वन गया है वह पूर्ण कैसा और नीतिमान भी कैसा ?" शकराचार्य ने ईश्वर को 'सर्वज्ञ' कहा है। उस कथन पर आक्षेप करनेवाले ने इसी प्रकार की उलझन खडी की है। उसका कहना है कि "सर्वज्ञ यानी सव जाननेवाला। ईश्वर कभी तो सव जानने का काम करता होगा और कभी नही। इसलिए जब वह सब जानने का काम नही करता होगा तब वह 'सर्वज्ञ' नही रहेगा। दूसरी ओर यदि यह मान लिया जाय कि वह अपनी जिम्मेदारी को सदा ही निभाता है तब तो वह ज्ञान का गुलाम हुआ !" कर्मयोगी कर्म का गुलाम, नीतिमान नैतिकता का गुलाम, सर्वज्ञ परमेश्वर ज्ञान का गुलाम और यह कौन ? "यह है स्वतन्त्रता का गुलाम।"

३. नदी—ईश्वर की बहती हुई करुणा

नदी-किनारे के लोगो मे एक प्रकार की उदारता व प्रेम दिखाई देता है। नदी के रूप मे ईश्वर की करुणा बहती है। नदी-किनारे के लोगो को उस करुणा मे डुबकी लगाने का मौका मिलता है। नदी का पानी पीने मे पानी के साथ ईश्वर की करुणा भी पीने को मिलती है। उससे उनका अन्त -

करण उदार होता है। मेरे गाव की नदी को ऊपर के गाववालो ने मेरे पास भेजा है और मुझे भी वही परम्परा कायम रखकर उसे नीचे के गाव की ओर भेजना चाहिए, यह कृतज्ञ भावना—परोपकार बुद्धि—नदी-किनारे के लोगो मे पैदा होती है। नदी-किनारे के लोगो मे नदी के बारे मे एक सात्त्विक अभिमान रहता है। जैसे देश का अभिमान, वैसा ही नदी का अभिमान। परन्तु देश का अभिमान स्थायी या रुका-सा होता है, इसलिए उसमे सकुचितता हो सकती है। नदी का अभिमान जगम या बहता रहता है। इसलिए उसके योग से अन्तःकरण व्यापक बनता है। महाराष्ट्र मे कृष्णा या गोदावरी के किनारे के लोगो मे उदारता स्पष्ट दिखाई देती है, क्योकि उनके प्रात की नदिया दूसरे प्रातो मे गई है। उसी प्रकार गुजरात की नर्मदा या तापी के किनारे के लोगो मे कृतज्ञता दिखाई देती है, क्योकि परप्रात की नदिया उनसे मिलने आई है। कृतज्ञतापूर्वक सेवा को स्वीकार करना तथा उदारतापूर्वक सेवा करना नदी-किनारे रहनेवाले लोगो का देह-स्वभाव होता है, आदत होती है।

४. कायरता और क्रूरता की दूरी

परसो कलकत्ता के पास बकरीद के दिन हिंदू-मुसलमानो के बीच दगा हुआ। उसका कारण गोवध था। मुसलमान मुट्ठीभर थे। हिंदुओ की सख्या अधिक थी। उसका फायदा उठाकर हिंदुओ ने क्रूरता की। गांधीजी ने उसका निषेध किया। उससे एक समस्या खडी हो गई है। नोआखाली मे हिंदू प्रतिकार न करके भाग गये थे तो गाधीजी ने उन्हे कायर कहा था और अब कलकत्ता मे प्रतिकार किया तो उन्हे अत्याचारी कह रहे है। क्या किया जाय? इस समस्या को सुलझाना मुश्किल नही है। कायरता के दोष से छूटने के लिए यदि क्रूर बने तो वह आग से निकलकर समुद्र मे गिरने के समान है। कायरता और क्रूरता एक ही गुण के दो नाम है। मुट्ठीभर लोगो पर क्रोध करने मे जैसी क्रूरता है वैसी कायरता भी है और भयभीत होकर भाग निकलने मे जैसी कायरता है वैसी क्रूरता भी है, क्योकि उसमे

आदमी मन मे हिसा करता ही रहता है। अर्जुन को देखकर भागना और द्रौपदी के सोते हुए बच्चो पर छुरी चलाना ये दोनो बाते एक ही अश्वत्थामा ने की थी। शौर्य जितना कायरता से दूर है, उतना ही क्रूरता से भी दूर है। शूर निर्भय होता है और इसीलिए वह अक्रूर भी होता है। कोहट मे कलकत्ते तक दौड न लगाकर बीच मे ही कही कुरुक्षेत्र बनाना चाहिए। पृथ्वी के विस्तृत नक्शे मे जो स्थान जितने अधिक दूरी पर दिखाई देते है वे उतने ही पास भी होते हैं। उसी प्रकार कायरता और क्रूरता मे कोहट कलकत्ता का अतर दिखाई देता है, तब भी वास्तव मे कुछ अतर नहीं है।

५. अस्पृश्यता-निवारण का व्रत

किसी भी मनुष्य को छूत न मानने मात्र से अस्पृश्यता-निवारण की इतिश्री नही हो जाती। जिस प्रकार भगी के शरीर की छूत मानना पाप है, उसी प्रकार उसके काम की छूत मानना भी पाप है। कोई समाजोपयोगी काम नीच नही होता, यह बात मन मे, बैठनी चाहिए और उसे करने की तैयारी होनी चाहिए। सेवा-धर्म की अस्पृश्यता दूर होनी चाहिए। काम की छूत बिलकुल मिट जानी चाहिए। भोजन का काम तो अपवित्र नही होता और पखाना-सफाई का काम अपवित्र होता है, यह क्यो ? यदि दोनो कर्तव्य-रूप हो, तो दोनो ही पवित्र भी होगे। पर भोजन करना क्या सदा ही कर्तव्य-रूप रहता है ? पगत बैठी है। आग्रहपूर्वक परोसा जा रहा है। कटोरी मे घी है या घी मे कटोरी कुछ समझ मे नही आता। क्या इस सबको पवित्र कहा जायगा ? ऐसे समय मे भोजन का कर्तव्य-रूप मिटकर उसमे भोग का रूप आ जाता है। इसके विपरीत भगी का काम उसके लिए स्थायी कर्तव्य-रूप रहता है। ब्राह्मण का लडका बरतन-सफाई करके कमाई करता है और उस कमाई पर पढाई करता है तो वह दृश्य ठीक नही लगता। उसके बजाय सप्ताह के सात दिन नियत सात घरो मे भोजन करके उसका पढाई करना ठीक मालूम होता है। यह अस्पृश्यता की भावना है। बरतन-

सफाई का काम अस्पृश्य माना गया है। ऐसी अस्पृश्यता की भावना को निकाल देना अस्पृश्यता-निवारण-व्रत का महत्वपूर्ण अग है।

६. प्रेम का आधार

हम कहते हैं कि प्रेम मे गुण-दोष नही देखना चाहिए। इसका क्या अर्थ है? यदि गुण-दोष न देखे तो क्या देखे? गुणो पर प्रेम करने का अर्थ आसानी से समझ मे आता है, किन्तु जब गुण न हो तब भी प्रेम मे कमी न हो इसका अर्थ क्या है? गुणो का आधार छोड दिया जाय तो फिर प्रेम किस आधार पर रहता है? नास्तिक को दूसरा कोई भी आधार नही दिखाई देगा, किन्तु आस्तिक के लिए है। भूतमात्र मे हरि का वास है। इस हरि पर नजर रखकर प्रेम टिकना चाहिए। भूत मात्र मे परमेश्वर रहता है, इतना ही भूत मात्र पर प्रेम करने के लिए पर्याप्त है। गुण भी अस्थिर होते है और दोषो पर प्रेम किया जाय यह तो कोई कहना ही नही। इसलिए प्रेम का आधार परमात्मा है। सब एक ही मा के बच्चे है, यह प्रेम का आधार है। उस परमात्मा को हमे पहचानना है। जब यह बात हमे जच जायगी तभी विश्वव्यापी प्रेम का अनुभव होगा।

७. गीता और गणतंत्र

आज के गणतत्र का सूत्र है 'एक व्यक्ति एक मत' और गीता का सूत्र है 'सब भूतो मे एक ही आत्मा है।' 'एक व्यक्ति एक मत' और 'सब भूतो मे एक आत्मा' दोनों सूत्र ऊपर से समान जान पडते है, परन्तु पहला सूत्र जहां भेद का सूत्रपात करता है वहा दूसरा उसका उपसहार करता है, इतना भेद है। एक 'बहुसख्यको के सुख' का विचार करता है, इसलिए अल्पसख्यकों के दु खो की चिता नही करता। दूसरा सूत्र 'सबके हित' का खयाल रखता है, इसलिए किसी एक का भी सुख नही भूलता। एक जहा भिन्न-भिन्न मतो का सघर्ष करवाता है, वहां दूसरा मतो के बीच मेल करवाता है। एक सिरो की गिनती करता है, दूसरा हृदय टटोलता है। पहले जमाने

मे प्लेग के दिनो मे जो प्लेगवाली जगहो से आते थे, उन्हे सख्ती से 'सूतक' मे (दूर) रखा जाता था। एक दफा प्लेग-ग्रस्त क्षेत्र से आये हुए लोगो को सिपाही ने रोक दिया। उन लोगो को विशेष काम था, इसलिए वे अपने-को छोड देने के लिए सिपाही से अनुनय-विनय करने लगे। सिपाही ने कहा, "मैं तो छोड देता, किंतु अफसर गिनती करता है। इसलिए छोड नही सकता।" इसपर उन्होने कहा, "हम उतने ही दूसरे लोग यहा बैठा देते है। तब तो काम हो जायगा न ?" सिपाही बोला, "हो जायगा। हमे क्या ? हमारी तो गिनती पूरी हो जानी चाहिए। यह है गणतत्र का तत्त्व। गीता अद्वैत की बात करती है।

८. दैनंदिनी लिखे

स्वामी रामदास ने कहा है "दिसामाजि काही तरी तें लिहावें"—दिन मे कुछ-न-कुछ तो लिखे ही। हम कहते है, 'रोजाना कुछ-न-कुछ तो काते ही।' हमने रोज लिखने पर जोर नही दिया, न वैसा जोर डालने की आवश्यकता है। किंतु कार्यकर्ताओ की ओर से जो पत्र-रिपोर्ट आदि प्राप्त होते है, उन्हे देखने पर स्वामी रामदास के उपर्युक्त वचन की उपयुक्तता समझ मे आती है। कार्यकर्ताओ के पास लिखने-जैसा कुछ नही होता और अकर्ताओ का, जो लोग कुछ नही करते, उनका लिखना बेकार है, यानी वाड्मय खत्म हो गया ! यदि यह कार्य-परायणता या चिंतन का लक्षण होता तो मुझे उसपर कतई आपत्ति नही थी। किंतु वस्तुस्थिति वैसी नही है। वस्तुस्थिति मे चिंतन की कमी दिखाई देती है। विचार करने की भी एक आदत होती है। आदत के कारण विचार बढ़ता है। रोजाना का निरीक्षण, समाचार, अनुभव रोजाना लिखकर रखना चाहिए। इससे स्मरण रखने, चिंतन करने और अनुशीलन करने की आदत पडती है। वृत्त या समाचार छोटा हो या बडा उसे लिखने के पीछे कोई-न-कोई 'वृत्ति' काम करती है। उसे पहचानकर वृत्ति-शोधनपूर्वक छोटी-बडी सभी वृत्तो या बातो का सग्रह करना चाहिए। 'छोटा' और 'बडा' यह भेद ही गलत है।

वैसे देखा जाय तो इस संसार में क्या कभी कोई बड़ी घटना होती है? विश्व की गति में बड़ी-से-बड़ी घटना भी शून्य ही है। किंतु अपनी वृत्ति की दृष्टि से देखें तो छोटी-से-छोटी घटना भी महत्वपूर्ण हो सकती है। मनुष्य ने हस्तेन्द्रिय, वाचा और बुद्धि को अपना विशेष गुण माना है। इन तीनों का आपस में एक-दूसरे पर असर पड़ता है। हममें उन तीनों के कार्य, उद्योग, जप और चिंतन एक साथ चलने चाहिए। तभी तेजी से हमारी सर्वतोमुखी प्रगति होगी। कार्यकर्ताओं की ओर से जिस प्रकार के लेखन की मैं अपेक्षा करता हूं, उसका स्वरूप मेरी दृष्टि में जप का है।

९. मुहूर्तं ज्वलित श्रेयः

विठोबा पवनार का निवासी। बिना पढ़ा-लिखा। सत्रह-अठारह वर्ष का एक मजदूर। किंतु उसने शुद्ध चित्त के बल पर अनेक सज्जनों का मन जीत लिया था। उसकी अंतिम बीमारी में जिन्होंने उसकी सेवा की, उन्हें वह सेवा भारस्वरूप नहीं, बल्कि उपकार स्वरूप मालूम हुई।

वर्ड्सवर्थ बहुत बार अपने गांव के पास की एक टेकड़ी पर घूमने जाया करता था। उस टेकड़ी पर बिखरे हुए पत्थर सिलावट लोग अपने काम के लिए चुनकर ले जाते थे। उसके मरने के बाद उसका स्मारक किस प्रकार बनाया जाय, इसके संबंध में वर्ड्सवर्थ ने लिखा है—"इस टेकड़ी पर एक पत्थर ऐसा है, जिसने किसी भी सिलावट को अपनी ओर आकर्षित नहीं किया, किंतु इसीलिए मैं उसकी ओर विशेष आकर्षित हुआ हूं। उस पत्थर को मेरा स्मारक समझा जाय और उसपर केवल इतना लिखा जाय कि 'अनेकों में से एक।' वर्ड्सवर्थ की तो यह आकांक्षा मात्र थी। विठोबा दरअसल वैसा था।

विठोबा की एक लड़के से दुश्मनी हो गई। उसमें विठोबा का विशेष दोष नहीं था। किन्तु फिर भी जब मैंने समझाया कि दुश्मनी अपने-आपमें सबसे बड़ा दोष है, और इतना कहकर मैंने दोनों के हाथ एक-दूसरे से मिलवा दिये, तबसे विठोबा दुश्मनी भूल गया और दोनों प्रेमपूर्वक रहने लगे।

विठोबा के सद्भावो की ऐसी अनेक बाते मेरे पास हैं। किन्तु अब वे सब सद्भाव विठोबा मे से निकलकर आत्मतत्त्व मे लीन हो गये है। मूलत वे वही के थे। ज्ञानदेव जैसे सन्त ने 'माझें नाम रूप लोपो'—मेरा नाम-रूप लोप हो जाय—कहकर जो प्रार्थना की है, वह इसी दृष्टि से।

विठोवा रोजाना शाम को काम समाप्त करके प्राय मेरे पास आता और मेरी बाते सुनने बैठ जाता था। किसी शाम को वह नही आता तो मुझे लगता था कि आज क्यो नही आया। आजकल भी वह मेरे पास आता था, किन्तु अब वह मेरी बाते सुनने के बजाय अपनी बाते मुझे सुनाता था।

उसके चले जाने के बाद आज कितने ही दिनो मे मै निम्नलिखित वचन गुनगुनाता रहता हू

माझ्या विठोबाचा—कैसा प्रेमभाव।
आपण चि देव होय गुरु॥
पढ़िये देह भाव, पुरवी वासना।
अंती तो आपणापाशी न्यावें॥

अर्थात्—मेरे विठोवा का कैसा प्रेम-भाव है कि वही भगवान् और वही गुरु बन गया है। देह चाहा तो देह दिया और अन्त मे वह अपने पास बुला लेगा। भुक्ति-मुक्ति दोनो वासना वह पूरी करता है।

१० हिमालय विभूति क्यों ?

भगवान् ने हिमालय की गणना विभूतियो मे क्यो की है, इसका आपको अब प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा होगा। कुछ विभूतिया अपने समय के लिए ही होती है, और वैसी विभूतिया भी गीता मे आ ही चुकी है, किन्तु कुछ विभूतिया, जिनमे खासकर जो निसर्गात्मक है, उन्हे चिरतन कहा जा सकेगा। वैसे देखा जाय तो इस जगत् मे वास्तव मे एक आत्मतत्त्व ही चिरतन है। और विभूतियो का वर्णन करते हुए भगवान् ने "अहमात्मा गुडाकेश" कहकर ही शुरूआत की है। इस महाविभूति मे शेष सब विभूतियो का सहज ही समावेश हो जाता है।

जैसे विभूतियों के दर्शन से आनन्द होता है, उसका कारण यही है कि उनमे आत्मा का कोई गुण प्रकट हो जाता है। समुद्र को देखकर आत्मा की गभीरता, कमल को देखकर अलिप्तता, रात्रि को देखकर अव्यक्तता, सूर्य को देखकर तेजस्विता, हिमालय को देखकर स्थिरता आदि आत्म-भाव या गुणो का थोड़ा-सा अनुभव होता है इसलिए हमे आनन्द होता है। जहा जरा भी आत्मोपलब्धि होती है, वही हमे आनन्द मिलता है।

सृष्टि-दर्शन से सभीको आनन्द मिलता है, परन्तु सृष्टि का आत्म-स्वरूप परखने की जिसमे शक्ति है, उसे कवि कहा जाता है। हिमालय के सानिध्य मे रहकर अनेको ने तपस्या की है। उस तपस्या की पवित्रता हिमालय के शुद्ध शरीर पर अकित हुई है। अनेक ऋषियो ने उसकी गुफाओ मे बैठकर प्रजा के हित का चिन्तन किया है और उनका वह विश्वकल्याण-चिन्तन गगादि नदियो के रूप मे आज भी बह रहा है। अनेक योगी हिमालय के शिखरो पर शरीर और उन्नत विचारो से पहुचे है। उनके विचारो की पवित्र हवा वहा से बह-बहकर भारत के प्रत्येक मनुष्य के हृदय को आलिगन देकर जगाती है।

जो व्यक्ति रात को सोते समय उत्तर दिशा का दर्शन और ध्रुव तारे की निश्चलता का ध्यान करके सोता है, वह सैकडो मील दूर रहने पर भी हिमालय के सानिध्य का अनुभव कर सकता है। सप्तर्षि उत्तर दिशा की ओर दिखाई देते है। उनके आकार को देखकर अनेको ने अनेक कल्पनाए की है। परन्तु काश्मीर और हिमालय को मिलाकर भारत के उत्तर भाग की आकृति जिस प्रकार की बनती है, मुझे तो सप्तर्षि की आकृति वैसी ही दिखाई देती है।

११. 'सहनाववतु' का विवरण

सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

'सहनाववतु' मत्र का भोजन से सबंध नही है, यह आक्षेप मैने बहुत बार सुना है। किन्तु वह आपत्ति मुझे ठीक नही मालूम होती। इसलिए उसमे

परिवर्तन करने की आवश्यकता भी मुझे नही मालूम होती है।

इस मत्र का सक्षेप मे विवरण देता हू

१ इसमे द्विवचन का प्रयोग हुआ है। वह सोद्देश्य है। समाज मे गरीब-अमीर, शिक्षित-अशिक्षित, स्त्री-पुरुष, मा-बाप और बच्चे, गुरु-शिष्य, मजदूर-मालिक, इत्यादि दो विभाग सभी जगह दिखाई देते है। उन्हे ध्यान मे रखकर द्विवचन का प्रयोग किया गया है। दोनो मिलकर ईश्वर से प्रार्थना करते है कि वह सहभाव दे, परस्पर अद्वेष दे।

२. इस प्रार्थना के तीन अग है (अ) "ईश्वर हम दोनो का (अन्नादि द्वारा) समान पोषण करे।" यह तो पोषण और सहपोषण के लिए प्रार्थना हुई। (आ) उपर्युक्त बात को ध्यान मे रखकर हम दोनो (वर्ग) साथ-साथ पुरुषार्थ करे, साथ-साथ कर्म करे, साथ-साथ उद्यम करे।" (इ) इस सह-पुरुषार्थ से "हम दोनो को तेजस्वी ज्ञान मिले।"

३ उपर्युक्त तीनो अगो को मिलाकर जीवन-विषयक एक सम्पूर्ण प्रार्थना बनती है और इसलिए वह सार्वभौम है। इसलिए लगभग सभी सामुदायिक प्रसगो पर उसका उपयोग किया जा सकता है। मनुष्य अकेला हो तब भी मानसिक समुदाय तो रहता ही है। गायत्री मत्र विशेषत एकात जप के लिए माना गया है। उसमे भी सामुदायिक दृष्टि को छोडा नही गया है, इसीलिए उसमे 'धीमहि' का बहुवचनी प्रयोग किया गया है। गायत्री मत्र मे समुदाय की एकता मान ली गई है। 'सहनाववतु' मे प्रत्यक्ष सामने आनेवाले या सभावित वर्गद्वेष को मिटाने की प्रार्थना है।

विभाग (अ) के द्वारा वह मत्र भोजनादि के प्रसग पर लागू होता है, (आ) के द्वारा उसे उद्योगादि के समय बरता जा सकता है और (इ) के द्वारा वह अध्ययनादि मे उपयोगी होता है।

१२. दास नवमी चिन्तन

"अती-लीनता सर्व-भावें स्वभावें
जना सज्जनालागिं सतोषवावें

देहे कारणी सर्व लावीत जावें
सगूणीं अती आदरे सी भजावें।"

१ हर बात में अतिशय नम्रता से व्यवहार करे। किन्तु कृत्रिम नम्रता व्यर्थ है। वह सहज ही होनी चाहिए।

२ जनता की सेवा करके सज्जनों को संतुष्ट करना चाहिए, क्योंकि जन-सेवा से सज्जनों को संतोष होता है।

३ किसी-न-किसी अच्छे काम में शरीर को लगाकर उसे सार्थक करना चाहिए। देह को आलस्य में नहीं रहने देना चाहिए।

४ आदरपूर्वक भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। सदा उसके शुभ गुणों का चिन्तन करते रहना चाहिए। उससे धीरे-धीरे उन गुणों का कुछ अंश हममें उतरेगा।

१२ विवाह का प्रश्न

विवाह के बारे में मा-बाप सलाह दे सकते हैं, मदद कर सकते हैं, परन्तु निर्णय तो लड़की का ही माना जाना चाहिए। मा-बाप की सलाह सहज रूप में लड़की को जच गई, तब तो कोई बात नहीं, पर यदि नहीं जची तो मा-बाप को दु:खी नहीं होना चाहिए। इसपर भी यदि वे दु:खी हों तो उससे लड़की का कोई दोष मानने को मैं तैयार नहीं हूं। केवल मा-बाप के संतोष के लिए ऐसी बात, जिसे उनका हृदय स्वीकार नहीं करता, कभी मान्य नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जो बात हृदय को न जचे, वह यदि हम करेंगे तो वह अपने हृदय को धोखा देना है और हृदय को धोखा देना अधर्म है। वह माता-पिता को धोखा देने के समान है।

जिसके प्रति तुम्हारे मन में विशेष अनुराग है, परन्तु तुम्हें मालूम है कि वह तुम्हें नहीं चाहता, उसके साथ विवाह करने की कल्पना तुम्हें छोड़ ही देनी चाहिए। जिस प्रकार सबके प्रति सद्भावना होनी चाहिए, वैसे ही उसके प्रति भी रखनी चाहिए। परन्तु यदि ऐसा तटस्थ भाव रखना असंभव हो और तीव्र प्रेम का अनुभव आता हो और इतने पर भी उधर से न

कोई अनुकूल उत्तर न मिलता हो तो शारीरिक विवाह का विचार छोडकर व्यक्ति को परमात्मा का प्रतीक मानकर उसका मानसिक रूप से वरण कर लेना चाहिए और ब्रह्मचर्य-व्रत से रहते हुए जीवन व्यतीत करना चाहिए। यह सब तुमपर कहातक लागू होता है, मुझे नही मालूम। यह आत्म-परीक्षण करके तुम्हे स्वयं निश्चित करना चाहिए। मेरा उत्तर पूर्ण है। हरेक को अपनी स्थिति के अनुसार उसका विनियोग कर लेना है।

और भी अनेक सूचनाए देना चाहता हू। अपनी मन स्थिति का वास्तविक ज्ञान प्राय मनुष्य को नही होता। वस्तु का यथार्थ दर्शन बहुत पास से नही होता, और दूर से तो वह अदृष्ट ही हो जाता है। थोडे अन्तर से उसका ठीक दर्शन होता है। पास रहकर बहुत चिंता और चिन्तन करने से भी जो बात ध्यान मे नही आती, वही थोडे समय बाद अपने-आप ध्यान मे आ जाती है। इसलिए मानसिक व्याकुलता को छोड ही देना चाहिए।

माता सहज प्राप्त होती है, उसे चुनना नही पडता, उसी प्रकार ईश्वर की योजना मे पति भी सहज प्राप्त होता है। ऐसी श्रद्धा रखी जाय तो व्याकुलता कम होगी, क्योकि परमेश्वर कोई शारीरिक वस्तु नही है, मानसिक है। सारे विश्व को परिपूर्ण प्रम से देखना सीखने के लिए विवाह आदि प्रयोग रखे गये हैं।

हृदय के विरुद्ध कोई काम न करना। धीरज से काम लो और ईश्वर पर श्रद्धा रखो।

१४. देव-स्थानो का सुधार

वारकरी पथ के एक कीर्तनकार लिखते हैं

पंढरपुर के पांडुरंग का मन्दिर हरिजनो के लिए खुला, यह आकाक्षा और आतुरता संतभूमिका को शोभा देने लायक ही है। यहां सबका अधिकार है। 'सकलांसी आहे येथें अधिकार' इत्यादि अभंग वाणी के द्वारा तुकाराम महाराज आदि सन्तो ने इसका समर्थन किया है और अस्पृश्य किसे समझा जाय, इसका निर्णय भी ज्ञानदेव महाराज ने कर दिया है।

'काम एष क्रोध एष', इसपर टीका करते हुए उन्होंने बताया है कि काम-क्रोधादि विकार और इनके साथी ही वास्तव में अस्पृश्य हैं। परन्तु केवल हरिजनो के लिए मन्दिरों के दरवाजे खोल देनेभर से देवस्थानो के सुधार और धर्म-शुद्धि का कार्य पूरा नहीं हो जाता। देवस्थान अध्यात्म-विद्या के पीठ होने चाहिए। देवस्थानो में काफी पैसा होता है। उसका सदुपयोग होना चाहिए।

लेखक के लेख का सौम्य भाषा मे यह सार है। आज हमारे मन्दिरो मे अनेक स्थानो पर नाना प्रकार के अनाचार चल रहे है। अज्ञान जनता की उदार श्रद्धा और ईश्वर की सहनशीलता के बल पर वह टिका हुआ है। परन्तु ईश्वर की सहनशीलता निष्क्रिय नही होती। कर्म और उसके फल के बीच सबध जोडकर वह तटस्थ बन गया है और यदि मन्दिरो का जल्दी सुधार नही हुआ, तो उसकी सहनशीलता यह योजना बना रही है कि मन्दिर ही न रहे। ईसा मन्दिर मे गया और उसने देखा कि वहा तो बाजार लग रहा है। आज यदि ज्ञानदेव अथवा तुकाराम हमारे मन्दिरो मे आकर देखे तो उन्हे भी वहा यही दिखाई देगा और फिर ईसा की भाति वे भी इन सारे बाजारो को उठा देने के काम मे लग जायगे। परन्तु यह काम ऐसे राग-द्वेष-रहित सतो का है। साधारण लोग तो इतना ही करे कि वहा जानेवाले सभी लोगो को समतापूर्वक दर्शन हो और इसका प्रबन्ध जनता के द्वारा चुने हुए लोगो के हाथो मे रहे। इतना करके वे आगे के काम के लिए महान् सत्पुरुषो के आगमन की सक्रिय प्रतीक्षा करे।

१५. आत्म-निष्ठ बने

मुझसे यहा बहुत-से प्रश्न पूछे गये। उन सबके जवाब अलग-अलग देना जरूरी नही है, क्योकि बहुत-से प्रश्न ऐसे होते है कि उनके केवल पूछ लेने मात्र से प्रश्नकर्ता का समाधान हो जाता है। फिर भी इन प्रश्नो को ध्यान में रखते हुए मै आपके सामने दो शब्द रखता हू।

अभी यहापर एक बहन ने कहा कि हमारे देश की बहनो की वर्तमान

अवस्था के लिए अधिकाश मे पुरुष ही जिम्मेदार है । मै इस आरोप को दुःख-पूर्वक स्वीकार करता हू । मुझे इसका पता भी है । मेरे जीवन की रचना इसी ज्ञान के आधार पर हुई है और अपनी मां को याद करके इस विषय मे अपनी जिम्मेदारी पूरी करने का निरन्तर प्रयत्न करता रहा हू ।

कल मैंने एक मूल-भूत विचार आपके सामने रखा था । स्त्रियो और पुरुषो मे जो भेद है, उसे ससार जानता है । उसे दूर करने की न किसीको इच्छा है और न शक्ति भी । परतु इस भेद ने जो लौकिक स्वरूप ग्रहण कर लिया है, वह ऐसा नही है । यह स्वरूप प्रकृति की योजना है । उसकी जड मे पवित्र भावना है । प्रजोत्पत्ति का वह केवल एक साधन है । परन्तु मनुष्य प्राणी ने इस बात का अत्यत दुरुपयोग किया है । सच पूछिये तो यह एक शास्त्रीय विषय है । फिर भी उसे आज एक लज्जाजनक रूप प्राप्त हो गया है । वह भी इतना कि उसके बारे मे खुले दिल मे बोलना भी असभव हो गया है । परन्तु जैसे ही उसमे शास्त्रीयता आने लगेगी तत्सबधी सारी गलत-फहमिया भी दूर हो जायगी । फिर इस विषय का आज के समान दुरुपयोग नही होगा । इसलिए मेरी राय यह है कि इस बाहरी, ऊपरी भेद को भुला-कर मानवी दृष्टि से आन्तरिक अभेद की नीव पर ही हमे अपने जीवन की रचना करनी चाहिए ।

लोग पूछते है कि "तब क्या आप स्त्री-पुरुषो की शिक्षा मे कुछ भी भेद नही करेंगे ?" इसपर मेरा जवाब यह है कि यदि भेद ही करना है तो हर आदमी की शिक्षा मे भी भेद हो सकता है । पुरुषो की योग्यताओ मे भी फर्क होता है और इस बात को ध्यान मे रखकर उन्हे अलग-अलग प्रकार से शिक्षा दी जाती है, तथापि सर्वसामान्य शिक्षा की नीति मे इससे कोई फर्क नही पड़ता । यही बात स्त्रियो के बारे मे भी समझी जानी चाहिए । एक बहन ने पूछा था कि क्या बाल-सगोपन स्त्री-शिक्षा मे शामिल नही है ? जरूर है । परन्तु इसका अर्थ यदि यह होता हो कि पुरुषो की शिक्षा मे उसकी जरूरत नही है, तो वह मुझे स्वीकार नही है । बच्चा तो माता-पिता दोनो के लिए आवश्यक है । हा इतना जरूर माना जा सकता है कि माता को

ज्ञान की आवश्यकना अधिक है।

१६. लड़के-लड़कियो की शिक्षा

एक मित्र लिखते हैं—

"तालीमी संघ द्वारा नियुक्त की गई एक समिति के अंग्रेजी कार्य-विवरण में एक वाक्य है, जिसका आशय है—अनिवार्य शिक्षा यदि लड़को व लड़कियो दोनो के लिए न की जा सकती हो तो कम से-कम लडको के लिए तो की ही जानी चाहिए। मुझे यह बात नहीं जचती। मेरी राय इससे ठीक उलटी है। समिति के एक सदस्य के नाते आपका नाम भी अन्त में छपा हुआ है। फिर भी मैं मानता हूं कि पूरा विवरण आपने शायद नहीं पढा होगा और इसलिए उपर्युक्त वाक्य भी आपके देखने में नहीं आया होगा। इस संबध में आपकी क्या राय है?"

शिक्षा लडके और लडकियो दोनो को एक-सी मिलनी चाहिए और वह सबके लिए अनिवार्य होनी चाहिए, यह मैं मानता रहा हूं। सात वर्ष की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए, यह समिति की राय है। यह हुई शिक्षा की दृष्टि। परन्तु वर्तमान सामाजिक परिस्थिति मे प्रगतिशीलता के अभाव मे यदि लडकियो के लिए शिक्षा को अनिवार्य नही किया जा सके, तो कम-से-कम लडको के लिए—चूंकि लडको के बारे मे कोई रुकावट नही है—अनिवार्य किया जाय, यह उस सिफारिश का आशय है। शिक्षा की दृष्टि से लडके-लडकियो मे भेद करने की समिति की कल्पना नही है। सारे देश पर एक योजना लागू करने मे तरह-तरह की आपत्तियां खड़ी होती है। यह विवरण आठ-दस वर्ष पहले का है और देश की हालत इन बीच बहुत बदल गई है। इसलिए हम आशा करें कि शिक्षा की अनिवार्यता के लिए लडके-लड-कियों के नाम मे विशेष भेद करने की जरूरत नही रहेगी।